जैन भारती

सितम्बर 2014 • वर्ष 62 • अंक 9 • वार्षिक ₹ 200

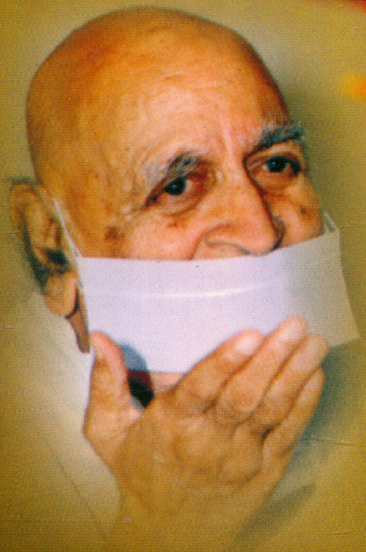

जिन्दगी का हर रंग कितना निराला है
कदम आगे बढ़ें तो उजाला ही उजाला है

VAB VENTURES

Leadership with Trust...

VAB Ventures Ltd.

60 B Chowringhee Road, Suite : 3/2/1, 3rd Floor
KOLKATA 700020, West Bengal, India
Tel. : (+91) 3322900112-114 | Fax : (+91) 3322900115
E-mail : arihantbaid@vabventures.in, www.vabventures.in

Sugar ◆ Pharmaceuticals ◆ Biotech ◆ Real Estate ◆ Financial Services ◆ Education ◆ Infotech

जैन भारती

वर्ष 62 • सितम्बर 2014 अंक 9

• संपादक
डॉ. शान्ता जैन

• *आवरण*
गौरीशंकर

अनुक्रम

1.	संपादकीय		5
2.	स्वाध्याय से क्या मिलेगा?	—आचार्य महाश्रमण	7
3.	बहुपत्नी प्रथा का सूत्रपात	—आचार्य महाप्रज्ञ	9
4.	ऋषभायण में राज्य-व्यवस्था	—समणी मंगलप्रज्ञा	13
5.	विकास महोत्सव	—आचार्य महाप्रज्ञ	19
6.	विकास महोत्सव आधार-पत्र		22
7.	मेरी आकांक्षा : मानवता की सेवा	—आचार्य श्री तुलसी	24
8.	शिक्षा का एक प्रारूप	—आचार्य श्री तुलसी	30
9.	मानवीय आचार-संहिता के प्रस्तोता	—साध्वी प्रमुखा : कनकप्रभा	33
10.	शिक्षा विकास : संघ विकास	—साध्वी जिनप्रभा	37
11.	शिक्षा की विकास-यात्रा साध्वी समाज में	—साध्वी कनकश्री	40
12.	तेरापंथ विलक्षण क्यों	—मुनि पीयूष कुमार	44
13.	आचार्यश्री तुलसी का शिक्षा दर्शन	—श्री स्वरूप चन्द्र जैन	47
14.	बदलना हमारा संस्कार है	—सुश्री वीणा जैन	50
15.	सामाजिक 'आचार-संहिता' : एक प्रस्तुति	—मोहनसिंह भंडारी	52
16.	भये कबीर उदास	—अमोलक	54
17.	जीवन में रंगों का वैभव	—शान्ता जैन	56

संपादकीय संपर्क सूत्र : डॉ. शान्ता जैन, जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं, 341306

प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन-महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401

प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001

सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- • त्रैवार्षिक 500/- • दसवर्षीय 1500/- रुपए

* Contact us at: jainbharatitms@gmail.com

विकास का चिंतन पथ

- विकास का मूल आधार है-चिंतनशक्ति, संकल्पशक्ति और कर्मशक्ति का समुचित योग।
- विकास का अर्थ है-सोए हुए को जगाना और जागे हुए को प्रगति की ओर ले जाना।
- विकास विद्या से नहीं, चरित्र और उच्च आदर्श से होता है।
- 'मैं सबका हूं और सब मेरे हैं' इस सामुदायिक दृष्टिकोण का विकास सबमें हो।
- विकास का रास्ता इतना संकरा नहीं कि उसमें दो विरोधी विचारों का समावेश न हो सके।
- उल्लास और प्रेरणा भरे कदम ही विकास की मंजिल तय कर सकते हैं।
- शिक्षा और स्वावलंबन के बिना विकास की मंजिल प्राप्त नहीं हो सकती।
- विकास के लिए बदलाव और ठहराव-दोनों जरूरी हैं।
- विकास की पगडंडियों को मापने के लिए सामर्थ्य और धैर्य का होना आवश्यक है।
- विकास का मेरुदंड अर्थ या भौतिकता बन जाए, वहां समस्याएं पैदा होती हैं।
- उपादेय का स्वीकार और हेय का परिहार-यह विकास का क्रम है।
- दिखावा, आडंबर और अपव्यय-ये सब विकास के मार्ग में बाधाएं हैं।
- बिना नैतिकता को स्थान दिए जीवन में विकास संभव नहीं है।
- विकास की बुनियाद में जरूरी हैं-शिक्षा, संस्कार, सम्यग-दृष्टिकोण और जागरूकता।

आचार्य तुलसी

पंक्ति नहीं, परंपरा बने

हर समाज, संस्था या संगठन की अपनी परंपराएं होती हैं। वह अपनी रीति-नीति, मर्यादा और व्यवस्था के द्वारा संचालित होता है और इन सबसे बनता है उसका इतिहास।

इतिहास के पन्नों पर जहां स्वर्णाक्षरित घटनाक्रम अंकित होते हैं वहां चाहे-अनचाहे कुछ प्रश्नचिह्न भी उभर आते हैं, और ऐसा तब होता है जब निर्माण की प्रक्रिया में कहीं कुछ गलत का प्रयोग हो जाता है।

संगठन का नेता यदि सक्षम एवं गुण-संपन्न होता है तो उसका इतिहास उसकी भावीपीढ़ी के लिए प्रेरणा दीप बनता है और यदि उसका संचालक अकर्मण्य, दिशाहीन और स्वार्थी होता है तो उसकी शालीन परंपराएं, सुदृढ़ व्यवस्थाएं और ऊंचे आदर्श ताश के पत्तों की तरह बिखर जाते हैं।

इस संदर्भ में तेरापंथ समाज अपने आपको गौरवशाली मानता है कि उसे आचार्य तुलसी, आचार्य महाप्रज्ञ और आचार्य महाश्रमण जैसा सक्षम नेतृत्व प्राप्त हुआ, जिससे उसे कार्यशील संस्थाओं की सुदृढ़ श्रृंखला एवं उर्वरा कर्मभूमि उपलब्ध होती रही।

आचार्यश्री तुलसी ने रोबोट युग में व्यक्ति-निर्माण के चिंतन को गतिशीलता दी। व्यक्ति-व्यक्ति पर ध्यान दिया। उसकी शक्तियों का मूल्यांकन किया। जीवन को संगठन, एकता, अनुशासन, मर्यादा, श्रद्धा और समर्पण का मजीठी रंग दिया। चरित्रनिष्ठ कार्यकर्ताओं की एक सक्षम पंक्ति तैयार की, जो भावी पीढ़ी के लिए प्रेरणा बन गई।

आज जरूरत है, वह पंक्ति एक परंपरा बने और इसीलिए निर्माण की दिशा में विकास महोत्सव जैसा आयोजन किया जाए, जिसका मुख्य उद्देश्य होता है—ऐसा सक्षम नेतृत्व सामने आए जो कार्यकर्ताओं की नई पौध तैयार कर सके। प्रशिक्षण ऐसा हो, जो नया आदर्श एवं नई ऊंचाई दे सके।

प्रेरणा और प्रशिक्षण जो सामने आये, वे किसी भी कार्यकर्ता, संस्था या संगठन के लिए पथ के पाथेय बन सकते हैं–

जिस संस्था का उद्देश्य व्यापक और नीतियां सही हैं, नेतृत्व सक्षम एवं प्रामाणिक व कार्यक्रमों में गतिशीलता है और जहां क्रियान्विति व परिणामों की समीक्षा की जाती है, वह संस्था समाज को ऊंचाइयां देती है। पर तभी, जब इन सबके साथ कार्यकर्ता का पुरुषार्थ पसीना बनकर बहता है।

प्रशिक्षण और प्रयोग की भूमिका पर आज विमर्शणीय बिंदु यह है कि कार्यकर्ता का निर्माण कैसे हो? उनकी पहचान क्या हो? कर्तृत्व की सीमायें कितनी व्यापक हों? बहुत जरूरी यह भी है कि स्वयंसेवी संस्थाओं के संचालक सत्ता, संपदा और पद-प्रतिष्ठा से अनछुए रहें। सेवा, सहयोग, संगठन और संस्कारादि उनके मुख्य उद्देश्य बनें ताकि प्रतिस्पर्धा की भाग-दौड़ भी उन्हें पछाड़ न सके।

कार्यकर्ता बनना आसान है, पर अंत तक इस पहचान को सुरक्षित रख पाना कठिन तपस्या है और हमें गर्व है कि संघीय संस्थाओं का नेतृत्व हमेशा सफल रहा है।

कार्यकर्ता की सफलता इसी में है कि वह अनाग्रही सोच में जीए, क्योंकि 'जो मैं सोचता हूं, वही सही है', इस अहं को पालना कर्तृत्व के कद को और छोटा कर देना होता है। बल्कि सोच का सापेक्ष दृष्टिकोण यह भी है कि दूसरे की सोच भी सही हो सकती है।

एक कार्यकर्ता के लिए पद तो सिर्फ अधिकार को काम में लेने की स्वीकृति है पर पदमुक्त होने पर कर्तव्य हमेशा कार्यकर्ता को जिंदा रखता है। इसलिए बिना पद भी हमारा चिंतन, अनुभव, कार्यशक्ति समाज सेवा को समर्पित होते रहे, यह जरूरी है।

कार्यकर्ता को अपनी योजनाओं को सक्रिय एवं तेजस्वी बनाने में विधायक चिंतन रखना होगा। क्योंकि संस्थाओं के दायित्व से जुड़कर भी यदि उसकी नीतियां, योजनाएं, संचालन सभी कुछ आलोचना के मुद्दे बने रहे तो फिर निषेधात्मक विचारशैली से बचना कैसे संभव होगा? जबकि प्रयत्न तो यह जरूरी है कि जहां जो गलत है उसे सब मिलकर सही करें।

प्रतिकूलतायें कितनी भी क्यों न आएं, सफल कार्यकर्ता संतुलित रहता है। पलायनवादी मनोवृत्ति से बचता है। आपसी वाद-विवाद, वैचारिक संघर्ष, असामंजस्य की स्थिति निर्मित नहीं होने देता। वह बिना धागा काटे गांठें खोलने का प्रयत्न करता है।

सफलता की संयोजना जुड़ी है कार्यक्रमों की प्रस्तुति में। पर कार्यक्रम सिर्फ नारा न बनें, बल्कि निर्णयों को परिणामों तक पहुंचाने की निष्ठा से बंधा रहे। यही सफलता का महत्त्वपूर्ण राज है, जिसे हम जानें।

संगठन तब मजबूत होगा जब सब साथ सोचेंगे और साथ सत्य खोजेंगे। तभी कदम से कदम मिलाता कारवां बनेगा।

आज कार्यकर्ताओं की ऐसी परंपरा स्थापित हो जो बिना अपेक्षा अपना फर्ज पूरा कर सके। समाज की आंख में जिसका चरित्र विश्वास को सुरक्षित रख सके। जो भगवान महावीर की अनेकांत शैली को जी सके और जो प्रतिकूलताओं के बीच भी धैर्य के साथ सबको सह सके, सबको समझ सके और सबको साथ लेकर चल सके।

—मुमुक्षु शान्ता

स्वाध्याय से क्या मिलेगा?

आचार्य महाश्रमण

प्रश्न किया गया—सज्झाएणं भंते! जीवे किं जणयइ? स्वाध्याय करने से जीव क्या प्राप्त करता है?

उत्तर दिया गया—सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ। स्वाध्याय करने से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है।

हमारे जीवन का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है—ज्ञान। जिस आदमी में ज्ञान का अभाव होता है, वह एक प्रकार से अंधा होता है। अंधे आदमी के लिए जैसे बहुत सारी चीजें अज्ञात रह जाती हैं, वैसे ही आदमी के ज्ञान पर जब आवरण आया हुआ होता है तब वह जान नहीं पाता। जैन कर्मवाद के अनुसार आठ कर्मों में पहला कर्म है—ज्ञानावरणीय कर्म। यह हमारे ज्ञान को आवृत करता है।

जिस प्रकार आंख पर पट्टी लगा लेने से दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म का उदय हो जाने से आदमी जान नहीं पाता। आदमी का यह लक्ष्य रहे कि जीवन में ज्ञान का विकास हो और ज्ञान का विकास तब होता है जब ज्ञानावरणीय कर्म कमजोर पड़ता है। ज्ञानावरणीय कर्म को हल्का या कमजोर करने का एक उपाय है—स्वाध्याय। प्राकृत भाषा में इसे सज्झाय कहा जाता है। यह स्व और अध्याय दो शब्दों से बना है। अपना अध्ययन करना, अपने बारे में जानना स्वाध्याय है। स्वाध्याय का सीधा संबंध आत्मा के साथ है।

आत्मा के बारे में जान लेने का मतलब है अध्यात्म के बारे में जान लेना। अध्यात्म को जानने के लिए आध्यात्मिक विषयों का अध्ययन किया जाता है। यह अध्ययन स्वाध्याय का एक प्रकार है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार इस प्रकार भी व्याख्या की जा सकती है—सुष्ठु अध्यायः इति स्वाध्यायः—अच्छी तरह सर्वांगीण रूप में अध्ययन करना स्वाध्याय है। पढ़ना-पढ़ाना आदि स्वाध्याय के अंग है। पठन-पाठन से ज्ञान का आवरण पतला पड़ता है अथवा उसमें छिद्र हो जाते हैं, जिससे ज्ञान की रश्मियां प्राप्त हो जाती हैं।

ज्ञान-प्राप्ति के लिए विद्यालय बने हुए हैं। चूंकि हम लोग पदयात्रा करते हैं। इसलिए बहुधा विद्यालयों में हमारा प्रवास होता है। जगह-जगह विद्यालयों की विपुलता है। छोटे-छोटे गांवों में भी विद्यालय मिलते हैं। सरकार भी शिक्षा के लिए जागरूक है। गरीब बच्चों को भी शिक्षा का मौका मिले, उसके लिए भी सरकार सचेष्ट है और शिक्षा की व्यवस्था कर रही है। अज्ञान के कारण आदमी अनेक रूढ़ियों को पकड़ लेता है और गलत काम भी कर लेता है। शिक्षा का विकास होने से अज्ञानजनित समस्याओं से छुटकारा मिल सकता है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में स्वाध्याय का वैशिष्ट्य माना गया। साधक के लिए स्वाध्याय एक प्रकार का अमृत है। इसका एक कार्य है—दूसरों को ज्ञान देना। जब तक साधक स्वयं स्वाध्याय नहीं करेगा, शास्त्रों आदि को नहीं पढ़ेगा, तब तक उसका ज्ञान विकसित नहीं होगा और जब उसका स्वयं का ज्ञान विकसित नहीं होता है तब वह दूसरों को ज्ञान क्या और कैसे दे पाएगा? प्रस्तुत आगम के छब्बीसवें अध्ययन में कहा गया है—

पुच्छेज्जा पंजलिउडो, किं कायव्वं मए इहं?
इच्छं निओइउं भंते! वेयावच्चे व सज्झाए।।

प्रातःकाल गुरु को वन्दन कर शिष्य गुरु से पूछे– गुरुदेव! आज आप मुझे किस कार्य में नियोजित करना चाहेंगे। मेरे सामने दो कार्य हैं–सेवा और स्वाध्याय। आपकी आज्ञा हो तो मैं वृद्ध, ग्लान आदि साधुओं की सेवा करूं। आपकी आज्ञा हो तो मैं स्वाध्याय करूं। जैसा आपका निर्देश होगा, मैं वही कार्य करूंगा। सेवा भी महत्त्वपूर्ण कार्य है और स्वाध्याय का भी अपना महत्त्व है। संस्कृत साहित्य में कहा गया–'स्वाध्यात् मा प्रमद' स्वाध्याय में कभी प्रमाद मत करो, स्वाध्याय करते रहो। स्वाध्याय को सर्वोत्तम माना गया। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि स्वाध्याय करने से ज्ञान मिलता है। ज्ञान प्राप्त कर आदमी सही आचार का पालन कर सकता है। ज्ञान ही नहीं होगा तो आचार का पालन कैसे होगा? ज्ञान है तो जीवन में अहिंसा आ पाएगी, ईमानदारी आ पाएगी और संयम आ पाएगा, किंतु ज्ञान सम्यक होना चाहिए। सम्यक ज्ञान का एक बड़ा आधार बनता है–स्वाध्याय। इसीलिए स्वाध्याय को सर्वोत्तम तप कहा गया होगा, ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

ज्ञान लौकिक और अलौकिक दोनों हो सकता है। अध्यात्मविद्या के संदर्भ में कहा गया–

जेण तच्चं विबुज्झेज्ज, जेण चित्तं णिरुज्झदि।
जेण अत्ता विसुज्झेज्ज, तं णाणं जिणसासणे।।

जिससे तत्त्व का बोध होता है, चित्त का निरोध होता है, आत्मा विराट होती है, उसे जिनशासन में ज्ञान कहा गया है। ज्ञान प्राप्त करने की मन में तड़प होनी चाहिए। ज्ञान प्राप्त करना भी तपस्या है, साधना है। तड़प हो तो उसे वृद्धावस्था में भी प्राप्त किया जा सकता है। हमारे धर्मसंघ के उच्चकोटि के वरिष्ठ मुनि मंत्रीमुनिश्री मगनलालजी स्वामी प्रौढ़ अवस्था में थे। गुरुदेव तुलसी की कुछ प्रेरणा मिली। उन्होंने प्रयास किया और उत्तराध्ययन सूत्र के अनेक अध्ययन कंठस्थ कर लिए। यद्यपि बचपन में जितनी आसानी से कंठस्थ हो सकता है, वृद्धावस्था में थोड़ी कठिनाई तो हो सकती है किंतु पुरुषार्थ हो और बुद्धि हो तो कुछ याद किया जा सकता है। हमारे यहां साधु संस्था में कंठस्थ करने की परंपरा रही है। हजारों-हजारों श्लोक स्मरण कर लिए जाते हैं। कुछ परिश्रम किया जाए तो ज्ञान का विकास हो सकता है। किसी भाषा को सीखना है तो कुछ पुरुषार्थ करना होगा। पहले उस भाषा की व्याकरण को और साहित्य को पढ़ना होगा, तब कहीं उस भाषा का अच्छा बोध हो सकता है। संस्कृत साहित्य में कहा गया–

बिना व्याकरणेनान्धः, बधिरः कोशवर्जितः।
साहित्यरहितः पंगुः, मूकस्तर्कविवर्जितः।।

किसी भाषा पर अधिकार प्राप्त करना है तो व्याकरण का ज्ञान अच्छी तरह करना होगा, तब प्रकाश मिलेगा। अगर व्याकरण का ज्ञान नहीं है तो भाषा की दृष्टि से उस आदमी को अंधा माना गया है। व्याकरण से आंखें खुलती हैं। जिस आदमी के पास शब्द भंडार नहीं होता है, वह आदमी बहरा होता है, क्योंकि जब कोई आदमी भाषण देगा तो वह नए-नए शब्दों का प्रयोग करेगा। यदि श्रोता को शब्दों का ज्ञान नहीं होगा तो उसके लिए उन शब्दों को सुनना और न सुनना प्रायः समान होगा। इसलिए शब्द भंडार के बिना आदमी को बहरा बताया गया है। जिसकी साहित्य में गति नहीं होती, वह भाषा की दृष्टि से पंगु होता है और जिसके पास तर्क बल नहीं होता, वह सुन लेता है किंतु प्रश्न नहीं उठा सकता। इसलिए उसे मूक कहा गया है। परिश्रम करने से आदमी किसी भाषा को भी आत्मसात कर सकता है, शास्त्रों की गहराई में भी जा सकता है। जिसकी ज्ञान के प्रति रुचि नहीं होती, वह कैसे और कितना ज्ञान का विकास कर सकेगा।

पूज्य गुरुदेव तुलसी बड़े ज्ञानी पुरुष थे, शास्त्रों के वेत्ता थे, कई भाषाओं के वेत्ता थे। उन्होंने कितने-कितने शिष्यों को ज्ञान का दान दिया। एक बार उन्होंने साधुओं की सभा में फरमाया था कि तुम लोगों को तत्त्वज्ञान का विकास करना चाहिए। हम लोग हमेशा तुम्हारे सामने नहीं रहेंगे। आखिर स्वयं को ज्ञान का विकास करना चाहिए। अपना ज्ञान ज्यादा काम आता है। दूसरों के भरोसे ज्यादा नहीं रहना चाहिए। ज्ञान के बिना आदमी सद्गुणों से वंचित रह जाता है। ❑

बहुपत्नी प्रथा का सूत्रपात

हमारा व्यक्तित्व दो तत्त्वों से बना हुआ है–एक आत्मा और एक शरीर। भीतर आत्मा और बाहर शरीर। दो कहां से शुरू होता है? हमारे शरीर से दो शुरू हो जाता है। आत्मा कोरी आत्मा होती तो एकल आत्मा, केवल एक आत्मा होती, दूसरा नहीं होता। पर आत्मा नहीं है, उस पर शरीर का कवच है, वह शरीर से लिपटी हुई है, इसलिए हम जो कुछ करते हैं उसमें आत्मा और शरीर दोनों का योग रहता है। दो है, इसका मतलब है समस्या। कोई भी व्यक्ति इस दुनिया में ऐसा नहीं जन्मता, जिसके सामने कोई समस्या न हो। शिखर पर जाकर देख लें, एवरेस्ट की चोटी पर जाकर देख लें, चाहे नीचे समुद्र के तल पर जाकर देख लें, सर्वत्र समस्या है।

मैंने बहुत वर्ष पहले एक लघु कविता लिखी थी–

'तारे ऊपर हैं
वे नीचे आना चाहते हैं
और पेड़ जो नीचे हैं
ऊपर जाना चाहते हैं
संतोष ऊपर भी नहीं है
नीचे भी नहीं है'

समस्या है–असंतोष। जहां असंतोष है वहां समस्या है। जहां शरीर है वहां समस्या है। जब तक शरीर है तब तक समस्या है। इस नियम को मानकर चलें तो क्या हम दुःख भोगते रहें? बिलकुल नहीं।

समस्या होना एक बात है और दुःखी होना दूसरी बात है। हम दुःख न भोगें, समस्या को सुलझाने का प्रयत्न करें। समस्या आये तो हाथ पर हाथ धर कर न बैठ जायें, निराश, उदास और पलायनवादी न बनें। किंतु समस्या को सुलझाने का प्रयत्न करें, समाधान की दिशा में हमारा पुरुषार्थ निरंतर चलता रहे। यह अखंड ज्योति निरंतर जलती रहे। प्रयत्न होगा तो समाधान मिलेगा, समस्या सुलझेगी। भूख एक समस्या है। आदमी ने समाधान खोज लिया। जब भूख लगी, रोटी खाई और भूख बुझ गई। प्यास लगी और पानी पी लिया, समाधान हो गया। हर समस्या का समाधान आदमी ने खोजा है। आज से नहीं, आदिम युग से समस्या और समाधान का क्रम चल रहा है।

नाभि के सामने समस्या आई–बाला अकेली रह गई। यौगलिक बोले–'स्वामी! जहां ऋषभ है वहां समाधान होगा। ऋषभ का नाम समाधान है। आपको कोई चिंता नहीं है। आप तो हमारी बात को स्वीकार करें। ऋषभ के हाथों में इस कन्या को सौंप दें। उस पिता को चिंता हो सकती है जिसके ऋषभ जैसा बेटा नहीं है। जिसके पास ऋषभ जैसा बेटा है उसको चिंता करने की कोई आवश्यकता नहीं है।'

समाधान का नाम ऋषभ है,
स्वयं समाहित सब होगा।
ऋषभ-तुल्य शास्ता जन्मा है,
सघन तिमिर क्यों अब होगा?
चिंता होगी उसी पिता को,
ऋषभ नहीं जिसके घर में।
महायोग भाग्योदय रेखा,
कितनी प्रबल बनी कर में।।

नाभि ने सोचा–इनकी प्रार्थना को स्वीकार कर लेना चाहिए। समस्या केवल इनके सामने नहीं है। मैं कुलकर हूं, नेता हूं, सबसे बड़ी समस्या तो मेरे सामने है इसलिए इनकी बात को मैं स्वीकार कर लूं। यह सोचकर नाभि ने कह दिया–'मैं तुम्हारी बात को स्वीकार करता हूं। पर एक समस्या मेरी और है। तुम जानते हो कि हम युगलधर्मा हैं। एक जोड़ा जन्मता है। ऋषभ अकेला नहीं जन्मा है। ऋषभ के साथ सुमंगला है। जब तक सुमंगला की भावना न जान लें तब तक स्वीकृति नहीं देंगे।'

स्वस्ति स्वस्ति पर एक समस्या,
युगल हमारा जीवन है।
सहजन्मा है सुमंगला यह,
देखें उसका क्या मन है?

सबने कहा–'बिलकुल उचित बात है। सुमंगला इस विषय में क्या कहती है? वह चाहती है या नहीं, यह अवश्य जानना चाहिए।' आज की भाषा में कहें तो कोई भी स्त्री सौत को नहीं चाहती। उस समय तो सौत की भाषा जानी हुई नहीं थी।

नाभि ने सुमंगला को बुलाया, कहा–'सुमंगला! यह कन्या है। इसको ध्यान से देखो। इसकी स्थिति क्या है। इसका जो साथी था, वह मर गया। यह अकेली रह गई है। अब विकट समस्या है कि यह अकेली कैसे रहेगी? कौन इसके साथ रहेगा? कौन इसकी व्यवस्था करेगा? अकेली कहां जायेगी? अकेली क्या करेगी?'

सुमंगला ने कहा–'यह सचमुच समस्या है और आपको यह समस्या सुलझानी चाहिए।'

नाभि बोले–'ये सामने यौगलिक खड़े हैं। ये प्रार्थना लेकर आये हैं कि इस कन्या को ऋषभ अपना ले। ऋषभ के दो पत्नियां हो जायेंगी। एक तो यह हो जायेगी और एक तुम। बोलो, तुम्हारी क्या इच्छा है?'

नाभि ने कितना युक्तिसंगत काम किया। सीधा थोपा नहीं, उसकी भावना को भी जानना चाहा। जो काम भावना को जानकर किया जाता है, वह सफल होता है। सीधा थोपा हुआ काम बेमन से होता है, वह काम सही नहीं होता। काम करने की एक पद्धति है कि जिनसे काम लेना है उनकी भावना को जान लिया जाये। उनकी क्या भावना है? भावना के बिना काम कराया जाये तो कभी-कभी करना तो पड़ता है, पर लाभ कम होता है।

सुमंगला ने उत्तर दिया–'पिताजी! बहुत अच्छी बात है। आपने बहुत अच्छा चिंतन किया है। यह अबला अकेली, जिसके सामने जंगल ही जंगल है, कहां जायेगी? इसका मंगल होना चाहिए। यह ऋषभ के साथ रहे, मेरे साथ रहे, तो मुझे कोई कठिनाई नहीं है। मैं सहर्ष इस प्रस्ताव को स्वीकार करती हूं। मैं चाहती हूं कि यह बाला मेरे साथ रहे और ऋषभ की साथिन बन जाये।'

पिता! परम संतोष मुझे यदि,
इस बाला का मंगल हो।
उसको पार लगाना होगा,
जिसके सम्मुख जंगल हो।
जिसके पद-तल दल-दल हो।।

सबको बड़ा हर्ष हुआ। एक स्त्री ने इतनी समझदारी की बात की, दूसरे के दर्द को समझने का

प्रयत्न किया। दुनिया में वह आदमी बहुत बड़ा होता है जो दूसरों के दर्द को समझता है। जो केवल अपने दर्द को समझता है, दूसरे की पीड़ा को नहीं समझता, दूसरे के दर्द का ध्यान नहीं देता, वह आदमी बड़ा नहीं होता।

एक बार राजा ने सोचा—मुझे मंत्री की नियुक्ति करनी है, पर मैं ऐसे नहीं करूंगा, परीक्षा के बाद करूंगा। वर्षा का मौसम था। वर्षा हो रही थी। प्रधानमंत्री ने घोषणा करवा दी—आज महाराजा एक मंत्री की नियुक्ति करेंगे। जो हमारी परीक्षा में उत्तीर्ण होगा, उसे मंत्री बनाया जायेगा। परीक्षा कहां होगी? न राज्यसभा और न कोई दूसरा स्थान। चुनाव किया खेत का। बहुत लोग आ गये। जहां मंत्री बनने की बात होती है वहां मुंह में पानी तो आ ही जाता है। मंत्री बन जाये तो और क्या चाहिए? काफी लोग इकट्ठे हो गये। उम्मीदवार भी आ गये। प्रधानमंत्री ने खेत में हल चलाना शुरू कर दिया। जहां दलदल था, चिकनी मिट्टी थी, वहां हल फंस गया। जितने उम्मीदवार आये, वे देख रहे हैं, कोई सुझाव दे रहा है—'मंत्रीवर! इधर से आओ।' कोई कुछ कह रहा है। एक व्यक्ति आगे आया, उसने हल को निकालने में सहयोग किया और हल को निकाल लिया।

महाराजा से प्रधानमंत्री ने कहा—'मैं इस व्यक्ति को मंत्री नियुक्त करना चाहता हूं।'

सबने कहा—'इससे तो बहुत होशियार दूसरे बैठे हैं। इसको कैसे चुना?'

प्रधानमंत्री बोला—'मुझे कोरा बुद्धिमान आदमी नहीं चाहिए। ये सब बुद्धिमान दूर से खड़े-खड़े सुझाव दे रहे थे। कोई भी मेरी पीड़ा में सम्मिलित नहीं हुआ। जिसके मन में दूसरों के दर्द को समझने की क्षमता होती है वही मंत्री बनने के योग्य होता है। जिसके मन में दूसरे की पीड़ा की अनुभूति होती है, जो दूसरे की पीड़ा को समझ सकता है, दूसरे के दर्द को अपना दर्द अनुभव कर सकता है, वही योग्य होता है, इसलिए मैं इसको नियुक्त करता हूं।'

जो व्यक्ति दूसरों की पीड़ा को नहीं समझता, वह योग्य नहीं होता, चाहे कितना ही पढ़ा-लिखा हो, कितना ही बुद्धिमान और समझदार हो। दुनिया को उससे क्या, जो दूसरे के लिए काम का नहीं होता। दूसरे के लिए वही व्यक्ति काम का होता है जो उनकी पीड़ा को समझ सकता है और उनकी पीड़ा में सहभागी बन सकता है।

सुमंगला ने पीड़ा का अनुभव किया। मेरी बहिन बड़ी पीड़ा में है। इसकी पीड़ा मेरी पीड़ा है, इसलिए इसकी पीड़ा दूर होनी चाहिए। ऋषभ को इसको स्वीकार कर लेना चाहिए। सुमंगला ने अपनी बात बड़ी दृढ़ता के साथ रखी। सबको बड़ा हर्ष हुआ। यौगलिकों को हर्ष हुआ, नाभि को भी हर्ष हुआ कि कितना अच्छा उत्तर दिया है। मेरी सारी भावना को इसने समझ लिया, साकार बना दिया।

सुमंगला ने यह नहीं सोचा—सौत को आमंत्रित करना समस्या को निमंत्रण देना है। उस पुरुष के सामने भी कम समस्या नहीं होती, जो दो पत्नियां रखता है।

सुमंगला ने जब सहर्ष इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया तब नाभि ने ऋषभ से कहा—'ऋषभ! यह समस्या है, इसे सुलझाना है और तुम्हें इसको स्वीकार करना है।'

ऋषभ ने कहा—'जैसी आपकी इच्छा। आप कुलकर भी हैं, पिता भी हैं। ऋषभ ने इस बात को स्वीकार कर लिया।'

नाभि ने कहा—आज हमारे समाज की व्यवस्था में नये युग का सूत्रपात हो रहा है। एक नया युग आ रहा है। आज तक हमारी यौगलिक व्यवस्था में एक पति के दो पत्नियां नहीं थीं। आज एक नई व्यवस्था हो रही है। एक ऋषभ के दो पत्नियां हो रही हैं—सुमंगला और सुनन्दा। यह नया युग आ रहा है तो इस नये युग में व्यवस्था भी नई होनी चाहिए।

नव युग की इस नई दिशा में,
हमने चरण बढ़ाए हैं
करता हूं मैं सादर स्वीकृत
अभ्यर्थन जो लाए हैं।।

नाभि ने कहा–अब पाणि ग्रहण की व्यवस्था होनी चाहिए। विवाह का पूर्व रूप है–पाणिग्रहण। उस समय न कोई मंडप बना, न कोई ब्राह्मण आया, न अग्नि जलाई, न मंत्रोच्चार हुआ, न चंवरी, न फेरा, न कोई नेकचार, न कोई उपचार, कुछ भी नहीं। केवल पाणिग्रहण, बस दो का हाथ मिल जाये। भारतीय परंपरा में विवाह का मूल नाम रहा है–पाणिग्रहण। इसका अर्थ है–एक-दूसरे का हाथ पकड़ लें, केवल पाणि-ग्रहण कर लें तो जीवनभर उस दायित्व का निर्वाह करना।

नाभि ने कहा–विकास की बेला में एक नया अनुबंध हो रहा है तो एक नई विधि भी डालनी चाहिए। हर व्यवस्था के साथ विधि का सूत्रपात होता है। कोई भी व्यवस्था विधि बिना सम्यक संचालित नहीं होती। विधि यह है कि दूसरी कन्या से विवाह का प्रसंग आए तो पाणिग्रहण हो जाये। यह पाणिग्रहण की प्रथा चालू कर दी जाए। ऋषभ के साथ कन्या का विवाह पाणिग्रहण की विधि से होना निश्चित हो गया।

युगलों का प्रयास सफल हो गया। सुनंदा की समस्या का समाधान हो गया। इस समाधान के साथ एक यौगलिक प्रथा का अवसान हो गया। अब यौगलिक व्यवस्था में कोमा लगना शुरू हो गया। अभी पूरी तो समाप्त नहीं हुई, पर अर्द्धविराम शुरू हो गया, एक परिवर्तन हो गया।

सफल हुआ आयास युगल का, धन्य सुनंदा आज हुई।
दैववाद का सूत्र गूढ़ है, अशरण अब सरताज हुई।।

हमें निश्चित मानना चाहिए–कोई भी समाज-व्यवस्था सदा एकरूप नहीं रहती। जो लोग आग्रही होते हैं, रूढ़िवादी होते हैं, वे समाज की व्यवस्था को एकरूप रखना चाहते हैं, पर कभी ऐसा नहीं होता। व्यवस्था मनुष्य-कृत है। मनुष्य ने जो बनाया है, वह कभी शाश्वत नहीं होगा, बदलता रहेगा। एक बार बदलने में कठिनाई होती है, दिमाग झनझनाता है। मन में प्रश्न उठ जाता है–आज तक ऐसा होता था, अब यह कैसे होने लग गया? यह नहीं सोचता–आज तक तो ऐसा होता था, पर यह कोई नियम नहीं है कि ऐसा ही होना चाहिए। आज नया नियम बन सकता है, नई व्यवस्था हो सकती है, नया सूत्रपात हो सकता है। एक समय था, कोई अंतरजातीय विवाह नहीं होता था किंतु आज होते हैं।

बहुत वर्ष पहले गुरुदेव के सामने एक समस्या आई। मुंबई का एक मुख्य परिवार। उस परिवार की एक लड़की एक हरिजन से शादी करना चाहती थी। परिवार वाले इस बात को कैसे मानें? बड़ा विग्रह खड़ा हो गया। आखिर हरिभाई यहां आये, बोले–'महाराज! एक बड़ी समस्या है। मेरी लड़की मान ही नहीं रही है। वह एक हरिजन से शादी करना चाहती है।' जहां युग बदलता है, युग की धारणाएं भी बदलती हैं। सब आदमियों में इतना लचीलापन नहीं होता कि उस बात को सहज स्वीकार कर लें। ऐसा मान लेते हैं जैसे कोई संकट का पहाड़ गिर रहा है। गुरुदेव ने कहा–'हरिभाई! इतने दुःखी क्यों होते हो? लड़की पढ़ी-लिखी है क्या?'

'लड़की वकील है। लड़का आई.ए.एस. आफिसर है, बड़ा प्रबुद्ध है, संस्कारी है।'

गुरुदेव ने कहा–'लड़की, लड़का दोनों प्रबुद्ध हैं, संस्कारी हैं, दोनों चाहते हैं? तब तुम्हें क्या कठिनाई है? व्यर्थ ही क्यों झंझट मोल लेते हो?'

उनको समझाया, बात समझ में आ गई। समस्या सुलझ गई। जहां युग बदलता है, युग की मान्यताएं बदलती हैं, युग की धारणाएं बदलती हैं, युग की हवा, चेतना बदलती है वहां कोई अकड़ जाये तो टूटता ही है। जिसमें प्राण है, लचीलापन है वह तेज तूफान को भी सह लेता है। वह टूटता नहीं है। यदि हमारी मति में भी लचीलापन हो, युग को समझने की क्षमता हो तो समस्या समस्या नहीं रहती। उस समय तो नये युग का प्रारंभ था। रूढ़िवाद था ही नहीं। नये युग के सूत्रपात, नई विधि से पाणिग्रहण की बात सुन यौगलिकों की भीड़ इकट्ठी हो गई। सबको पता लग गया कि आज एक नया काम हो रहा है। युगल आ रहे थे। ऋषभ, सुमंगला और सुनन्दा–सबके आकर्षण का केंद्र बन गए। ❐

ऋषभायण में राज्य-व्यवस्था

समणी मंगलप्रज्ञा

अस्तित्व निरपेक्ष है। व्यक्तित्व सापेक्ष है। अस्तित्व स्थायी है। व्यक्तित्व परिवर्तनशील है। अस्तित्व कोरा उपादान है। व्यक्तित्व निमित्तसापेक्ष उपादान की अनुगूंज है। व्यक्तित्व के विकास और ह्रास में उपादान कारण के साथ-साथ निमित्त कारण का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। व्यक्तित्व के उत्थान और पतन में काल, स्वभाव, नियति, कर्म, पुरुषार्थ, क्षेत्र, मति, परिस्थिति आदि सबका योग रहता है। परिस्थिति बदलते ही व्यक्ति के स्वभाव में परिवर्तन परिलक्षित होने लगता है। अस्तित्व में आलोकित उपादान की चमक व्यक्तित्व में निहित निमित्त की चमक से तिरोहित हो जाती है। उपादान निमित्त से पराभूत होता हुआ प्रतीत होता है। इस सत्य का साक्षात यौगलिक युग में किया जा सकता है।

आदियुग का यौगलिक मानव कल्पवृक्षों के सहारे अपना जीवन यापन कर रहा था। जीवन की सीमित आवश्यकताएं थीं। जिनकी संपूर्ति प्रकृति के द्वारा ही सहज रूप से हो रही थी। उस काल के व्यक्तियों में अकृत प्राकृतिक व्यवस्था थी। न सभ्यता, न संस्कृति, प्रकृति ही उनकी भव्य आकृति थी। न समाज, न राज्य, व्यक्ति अपनी ही मस्ती में अलमस्त था। आवेग एवं संवेग की सरिता उस युग के मानव के हृदय में स्वतः ही शांत थी। जब संवेग का वलय उपशांत होता है तब व्यवस्था अव्यवहार्य बन जाती है। यौगलिक युग के मनुष्य स्वभाव से ही प्राकृतिक व्यवस्था का अनुपालन कर रहे थे। ऋषभायण के महाकवि उस युग की तुलना मार्क्स के 'राज्यविहीन समाज' की अवधारणा से करते हैं–

नहीं राज्य है, ना समाज है व्यक्तिवाद है एकाकार
'राज्य-विहीन समाज' मार्क्स की हुई कल्पना ज्यों साकार।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ के अनुसार जिस समाज में अर्थ और पदार्थ का अभाव नहीं होता तथा उनका प्रभाव भी नहीं होता है, वह समाज स्वस्थ समाज होता है। यौगलिक युग में जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति का अभाव नहीं था और पदार्थ का प्रभाव भी नहीं था। काल में परिवर्तन घटित हुआ। प्राकृतिक संसाधन आवश्यकता पूर्ति में असमर्थ हो गये। अभाव की स्थिति उत्पन्न हो गयी। उस स्थिति में यौगलिकों के मन में अधिकार और ममत्व की चेतना का विकास हुआ। अव्यवस्था शुरू हो गयी। इस अव्यवस्था ने कुलकर व्यवस्था को जन्म दिया। स्वच्छंद-स्वतंत्र विचरण करने वाले प्राणियों ने पर के बंधन में रहना स्वीकार किया।

मानव-सभ्यता के इतिहास का वह पहला दिन था जब स्वतंत्रता परतंत्रता के आच्छादन में सुरक्षा खोजने लगी। अभाव की समस्या ने व्यक्ति की ममकार चेतना और अधिकार की मनोवृत्ति को परिपुष्ट किया, फलस्वरूप कुलकर व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गयी।

कुलकर नाभि ने राज्य की व्यवस्था की और ऋषभ को राजा के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। कुलकर व्यवस्था का अंत राज्य-व्यवस्था के उदय से हुआ। यहीं से मानव सभ्यता एवं संस्कृति के इतिहास का अभिनव सृजन प्रारंभ हुआ।

राजा ऋषभ ने अपनी अतीन्द्रिय ज्ञान क्षमता के द्वारा अश्रुतपूर्व और अदृष्टपूर्व व्यवस्था का सूत्रपात किया। उन्होंने एक क्रांति की और अकर्मयुग का यौगलिक मानव कर्मयुग में पुरुषार्थ प्रधान बन गया।

ऋषभ राज्य की गाथा पुरुषार्थ की गाथा है। संस्कृति और सभ्यता के अभ्युदय की गाथा है।

राजा ऋषभ के द्वारा नये युग का श्रीगणेश हुआ। राज्य-व्यवस्था से अनजान आदिम युग ने राज्य का निर्माण किया। व्यक्ति से परिवार, परिवार से समाज एवं समाज से राज्य संस्था का उदय हुआ। व्यक्ति का समूहीकरण ही विभिन्न नामों से संबोधित होने लगा।

राज्य की परिभाषा

मानव हृदय में विद्यमान सामूहिक भावनाओं की केंद्रीय अभिव्यक्ति का नाम राज्य है। समुदाय का उत्कृष्ट रूप राज्य है। प्रत्येक समुदाय का यही उद्देश्य होता है कि वह सबके हित का संपादन करे। राज्य का उद्देश्य सर्वाधिक हित को संपादित करना है, अतः अन्य सब समुदाय उसमें अंतर्गर्भित हो जाते हैं। अरिस्टोटल ने राज्य को परिभाषित करते हुए कहा–'राज्य कुलों और ग्रामों के उस समुदाय का नाम है, जिसका उद्देश्य पूर्ण और संपन्न जीवन की प्राप्ति है।'

रोमन साम्राज्य के प्रसिद्ध राजशास्त्री सिसरो (Cicero) ने राज्य को परिभाषित करते हुए कहा–'राज्य उस समुदाय को कहते हैं, जिसमें यह भावना विद्यमान हो कि सबको उसके लाभों का परस्पर साथ मिलकर उपभोग करना है।' The state is a numerous society united by a common sense of right and mutual participation in advantages.

गार्नर ने राज्य की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए कहा–'राज्य मनुष्यों के उस समुदाय का नाम है जो संख्या में चाहे अधिक हो या न्यून, पर जो किसी निश्चित भू-भाग पर स्थायी रूप से बसा हुआ हो, जो किसी भी बाध्य शक्ति के नियंत्रण से पूर्णतया एवं प्रायः स्वतंत्र हो और जिसमें एक

ऐसी सुसंगठित सरकार विद्यमान हो, जिसके आदेश का पालन करने के लिए उस भूखंड के प्रायः सभी निवासी अभ्यस्त हों।'

ऋषभ राज्य को जब उपर्युक्त परिभाषाओं के संदर्भ में देखते हैं तो परिलक्षित होता है कि उसमें राज्य की ये सभी विशेषताएं विद्यमान थीं। सबके हित साधन के लिए ही ऋषभ-राज्य का प्रादुर्भाव हुआ था। जनता, पृथ्वी का स्वतंत्र भूभाग, पूर्ण प्रभुत्व संपन्न समुदाय एवं व्यवस्था संचालन के लिए अपनी सरकार–राज्य के ये सभी आवश्यक तत्त्व ऋषभ राज्य में उपस्थित थे।

राज्य का उद्भव

राज्य स्वाभाविक नहीं है किंतु आवश्यकता के कारण उद्भूत यथार्थ है। जब समूह में संक्लेश पैदा होता है तब राज्य-व्यवस्था का प्रादुर्भाव होता है। समूह को संगठित करने के लिए और उसके व्यवस्थामूलक प्रश्नों के समाधान के लिए ही राज्य सत्ता का आविर्भाव होता है। केवल जीवनयापन करना ही मानव का लक्ष्य नहीं है; वरन शांति, आनंद और संस्कृति का उपभोग करना भी उसका उद्देश्य है। राज्य इस लक्ष्य को पूर्ण करने का साधन है। मनुष्य की संरक्षणात्मक समस्याओं का समाधान करने के लिए ही राज्य-सत्ता उद्भूत होती है। ऋषभ की राज्य-व्यवस्था के प्रादुर्भाव का मूल कारण यौगलिक जीवन में उत्पन्न पदार्थ वितरण का असामंजस्य ही था। उस समय प्रबल दुर्बल पर हावी हो रहा था। न्याय-अन्याय शक्तिशाली के विचारों का अनुसरण कर रहे थे। राज्य का एक उद्देश्य यह भी है कि सबको न्याय मिले। सबको न्याय मिले, इसी अवधारणा के साथ ऋषभ-राज्य का उदय होता है–

दुर्बल के प्रति प्रबल नर, कर न सके अन्याय।
शासन की यह सफलता, न बने वह व्यवसाय।।

उस युग में विषमता की आंधी शांत-प्रशांत यौगलिकों के जीवन को तहस-नहस करने लगी। हाकार, माकार एवं धिक्कार नीति जब पौरुषहीन होने लगी तब पुरुषार्थी ऋषभ-राज्य का जन्म हुआ।

समाज और राज्य

समाज का आधार है–मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियों का समूहीकरण। यह प्रक्रिया मानव को इच्छापूर्वक सत्कर्म में नियोजित करने में व्यक्त होती है किंतु राज्य अंततोगत्वा दंड-शक्ति का आश्रय लेता है। यद्यपि राज्य भी प्रथम आज्ञा, निर्देश, विज्ञप्ति, सूचना, उपदेश से काम लेता है; किंतु अपनी आज्ञा का उल्लंघन होने पर वह नियंत्रण शक्ति का प्रयोग भी करता है। समाज परंपरा प्राप्त धर्मों, नियमों, व्यवहारों से अपनी व्यवस्था संचालित करता है किंतु स्पष्ट विधियां या लिखित अनुशासन ही आधुनिक राज्य के मुख्य साधन हैं। हिंसा का प्रश्न समाज और राज्य को पूर्णतः पृथक कर देता है। सामाजिक संस्थाएं आर्थिक दंड दे सकती हैं, प्रायश्चित करा सकती है, यदि कोई मनुष्य उसकी व्यवस्था को न माने तो वह उसे समाज से बहिष्कृत भी कर सकती है किंतु वह उसे कैद नहीं कर सकती, शारीरिक दंड नहीं दे सकती। राज्य को विधि सम्मत दंड देने का पूर्ण अधिकार है। सामाजिक दंड व्यक्ति स्वेच्छा से स्वीकार करता है किंतु राजकीय दंड तो व्यक्ति को अनिवार्यतः

भोगना ही पड़ता है। राज्य-व्यवस्था का दंड अनिवार्य तत्त्व है, अतः राजनीति को दंडनीति भी कहा जाता है। दंड-भय से ही अधिकांश व्यक्ति सद्‌मार्ग का अनुगमन करते हैं। मनु ने कहा भी है–

सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः।
दंडस्य हि भयात्सर्वं गद् भोगाय कल्पते।।

ऋषभ-राज्य से पूर्व की कुलकर-व्यवस्था को समाज-व्यवस्था कहा जा सकता है, क्योंकि वहां पर दंड का स्वीकार स्वेच्छापूर्वक था किंतु ऋषभ-राज्य में दंड की अनिवार्य व्यवस्था थी।

ऋषभ राज्य और दंड

ऋषभ-राज्य में अधिकांश जनता स्वभावतः ही अनुशासित थी। 'निज पर शासन' का घोष उनके जीवन में स्वतः अवतरित था। नियम की अनुपालना उनके जीवन में प्राकृतिक रूप से ही अवस्थित थी। नियम का उल्लंघन करना वैकृतिक/अस्वाभाविक था। फिर भी जहां भी व्यवस्था का भंग होता था वहां विभिन्न प्रकार के दंडों का विधान था। वाचिक एवं कायिक दोनों ही प्रकार के दंड अपराधी को उसके अपराध के अनुसार दिये जाते थे।

किसी अपराधी को कड़े शब्दों में कहा जाता–'यहीं बैठ जाओ'–यह दंड भी उसके लिए मरण-तुल्य होता था किंतु जैसे-जैसे लज्जा का अपकर्ष होता है, वैसे ही व्यवस्था का अतिक्रमण तेजी से होने लगता है। लज्जाहीन व्यक्ति नियम को तोड़ते हुए सकुचाता नहीं है, वैसी स्थिति में दंड भी कठोर होने लगते हैं। ऐसा ही ऋषभ-राज्य में हुआ। वाचिक दंड से कायिक दंड की ओर राज्य-व्यवस्था बढ़ने लगी। मंडली-बंध घर में नजरबंद आदि विभिन्न प्रकार के दंड प्रयोग में आने लगे। उससे आगे देह पीड़क दंड का प्रयोग भी होने लगा। किंतु ऋषभ-राज्य के अधिकांश नागरिक स्वयं-संबुद्ध एवं अनुशासित थे, अतः अतिक्रमण कम होते थे, इसलिए दंड भी सीमित ही थे। ऋषभायण में यह तथ्य इस रूप में मुखर हुआ है–

सीमित शासन, अल्प अतिक्रम, अल्प दंड, तनुतर विक्षेप
ऋषभ राज्य की यह महिमा है, नहीं कहीं कोई आक्षेप।।

राज्य में सुरक्षा व्यवस्था

राज्य के सम्यक संचालन के लिए सुरक्षा व्यवस्था आवश्यक होती है। ऋषभ ने अपने राज्य में सुरक्षा के समुचित उपाय किये। उन्होंने अपने राज्य की संपूर्ण जनता को चार भागों में विभक्त किया–उग्र, भोज, राजन्य एवं क्षत्रिय। जिन पर सुरक्षा का दायित्व था, वे 'उग्र' कहलाये। जिनके साथ राज्य-संचालन के लिए मंत्रणा की जाती थी उनकी अभिधा 'भोज' हुई। ऋषभ के समवयस्क, जो उनके सखा थे उनको 'राजन्य' कहा गया तथा अवशिष्ट सभी क्षत्रिय कहलाये। इस व्यवस्था का उल्लेख 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितमहाकाव्य' एवं 'ऋषभायण' इन दोनों ही ग्रंथों में उपलब्ध है।

आदि पुराण में आचार्य जिनसेन ऋषभ के द्वारा कृत वर्ण-व्यवस्था का उल्लेख करते हैं। किंतु आचार्य हेमचन्द्र एवं आचार्य महाप्रज्ञ वर्ण-व्यवस्था के संदर्भ में मौन है। यह स्पष्ट है कि कवि की काव्य-रचना पर तात्कालिक परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है। संभवतः आदि पुराण के कर्ता के समय वर्ण-व्यवस्था सुदृढ़ थी तथा वे उसको मान्य भी कर रहे होंगे, अतः उन्होंने इस व्यवस्था का उल्लेख अपने ग्रंथ में किया हो किंतु आचार्य हेमचन्द्र तात्कालिक परिस्थितियों से कैसे अप्रभावित

रहे, यह अन्वेषणीय है। संभव है आदिपुराण के कर्ता के समक्ष अपने ग्रंथ के प्राथमिक स्रोतों में ये तथ्य उपलब्ध थे तथा हेमचन्द्र के सामने इस उल्लेख वाले प्राचीन-स्रोत उपलब्ध न हो अथवा यह भी हो सकता, उपलब्ध होते हुए भी उन्होंने अपने ग्रंथ में स्थान देना उचित न समझा हो। दोनों ही लेखकों की भिन्न परंपरा भी वर्ण-व्यवस्था की स्वीकृति-अस्वीकृति में शायद कारणभूत बनी हो। आचार्य महाप्रज्ञजी के सामने जो स्रोतभूत सामग्री उपलब्ध थी उसमें दोनों ही तरह के विचार उपलब्ध थे किंतु उन्होंने समीक्षापूर्वक वर्ण-व्यवस्था का उल्लेख अपने महाकाव्य में नहीं किया। जो वार्तमानिक परिस्थिति के अनुकूल ही है तथा उनके स्वतंत्र अभिव्यक्ति के अधिकार की भी अभिव्यक्ति हो रही है।

ऋषभ-राज्य में अर्थव्यवस्था

भगवान ऋषभ से पूर्व का युग भोग-भूमि था। ऋषभ के अवतरण के साथ ही युग अकर्म से कर्म भूमि की ओर गतिशील होने लगा। जीवन निर्वाह के लिए शिल्प/कर्म की आवश्यकता हुई। राजा ऋषभ ने अपनी जनता को शिल्प एवं कर्म का प्रशिक्षण दिया, जिससे वे अपनी आजीविका को प्राप्त कर सकें। सबकुछ नया था। मिट्टी के पात्र निर्माण से लेकर लोह-शिल्प, बढ़ई-शिल्प आदि का प्रशिक्षण स्वयं ऋषभ ने जनता को दिया। वस्त्र-निर्माण, नख-केश संस्कार का ज्ञान भी उस समय के व्यक्तियों को नहीं था। उसका भी बोध ऋषभ ने जनता को दिया। उस समय कुम्हार, बढ़ई, चित्रकार, जुलाहा एवं नापित–ये पांच प्रकार के शिल्प जनता में फैले। इनमें से प्रत्येक के बीस-बीस भेद थे, अतः शिल्प सौ प्रकार का हो गया।

ऋषभ ने घसियारा, लकड़हारा, किसान और वणिक कार्य की शिक्षा भी आजीविका के लिए जनता को दी। वे हर तरह से अपने-आपको जनता के हित-साधन में नियोजित किये हुए थे। ऋषभ उस युग की अपरिहार्य आवश्यकता थे। जनता का सुख-दुःख ही उनका अपना सुख-दुःख था। जनता के हित चिंतन में उन्होंने अपने आपको समर्पित कर दिया था। वह नेता और राजा ही जनप्रिय होता है जो प्रजा के दिल को जीत सकता है, जो आजीविका के उपाय सुझाता है। जनहित की साधना में निरत रहता है। जनता के हित की चिंता न करने वाला नेता केवल शासन का भार ढोता है। उसे जनता से सम्मान नहीं मिलता। जो अधिकार मिलता है, वह भी अंततः धिक्कार में बदल जाता है। ऋषभायण की इन पंक्तियों में यही भाव प्रस्फुटित हुए हैं–

जनहित साधन में न निरत है, केवल ढोता पद का भार।
वह क्या राजा वह क्या नेता? उससे पीड़ित है संसार।।
जनता से अधिकार प्राप्त कर, नहीं कभी करता उपकार।
प्रथम वर्ण का लोप हो गया और हो गया द्वित्व ककार।।

ऋषभ ने अपने दायित्व का निर्वाह संवेदन की भूमिका पर स्थित होकर किया। पर में घटित घटना को स्व में घटित अनुभूत कर उसका समाधान देने का प्रयत्न किया। जब नेता के दिल में करुणा का स्रोत प्रवाहित रहता है तब उसके अधीनस्थ उसे अपना समझते हैं। यह ऐक्य की अनुभूति ही शासन-व्यवस्था का सम्यक संचालन कर सकती है। ऋषभ-राज्य में इस ऐक्य भाव की प्रगाढ़ अनुभूति विद्यमान थी। (शेष अगले अंक में पढ़ें) ❑

भावभरी-प्रस्तुति

चंद के रूप में है जो तेरो मन, तो मैं चकोर को रूप बनाऊं।
हौवै यदि तुमरो मन सूरज, तो प्रभु चातक मैं बन जाऊं।
हो यदि वा जलराशि आकार, तो मीन के रूप मैं अंदर पाऊं।
क्यूं ही न क्यूं ही उपाय करी मन, देखल्यूं तो मैं जरूर रिझाऊं।।

अंबुज है यदि जो तुमरो मन, तो भंवरो वन मैं ललचाऊं।
है सुर वृक्ष तो मैं बन याचक साचलि ही विरूदावली गाऊं।
रूं को है रूप यदि मन को, परि स्वेद बनी उसमें बह जाऊं।
क्यूं ही न क्यूं ही उपाय करी मन, देखल्यूं तो मैं जरूर रिझाऊं।।

– आचार्य महाप्रज्ञ

आचार्य महाप्रज्ञ का
तेरापंथ संघ व समाज को

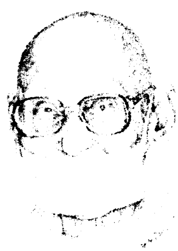

रचनात्मक अमित
अवदान

विकास महोत्सव

चिंतन निर्णय और क्रियान्विति के साथ विकास की समीक्षा

अनुशासन और विकास–दोनों में साहचर्य का संबंध है। अनुशासन में विकास के बीज छिपे रहते हैं और विकास अनुशासन से प्राणवायु लेकर जीवित रहता है। तेरापंथ धर्मसंघ ने इस साहचर्य का सतत समादर किया है, अनुशासन और विकास का निरंतर मूल्यांकन किया है।

आचार्य भिक्षु ने एक आध्यात्मिक प्रासाद का निर्माण किया। उसकी पहली भूमिका है आचार और विचार की पवित्रता। दूसरी भूमिका है अहं और मम का विसर्जन। तीसरी भूमिका है अनुशासन और चौथी भूमिका है विकास। तेरापंथ के तीसरे आचार्य का युग विकास की भूमिका का युग माना जाता है। आचार्य भिक्षु और आचार्य भारीमालजी का शासनकाल पूर्ववर्ती तीन भूमिकाओं को सुदृढ़ बनाने का काल है।

जयाचार्य के शासनकाल में विकास की गति तेज होती है। उन्होंने अनुशासन को प्राणवान बनाए रखने के लिए वि. सं. 1920 में मर्यादा महोत्सव की स्थापना की। वह संघपुरुष के हृदय की धड़कन और उसके जीवन का श्वासोच्छ्वास बना। मर्यादा महोत्सव का निष्ठापत्र ही तेरापंथ की प्राण-प्रतिष्ठा है।

जयाचार्य के शासनकाल में साहित्य, कला, अध्ययन, वक्तृत्व, यात्रा, शिष्य-संपदा आदि अनेक क्षेत्रों में विकास के चरण आगे बढ़े, उनके उत्तरवर्ती आचार्य-त्रय ने विकास के चरणों का अनुगमन किया। अष्टमाचार्य कालूगणी ने विकास की गति को और अधिक तेज करने के लिए कुछ अभिनव दिशाएं खोलीं। गति में तीव्रता लाने का दायित्व अपने उत्तराधिकारी को सौंप दिया।

आचार्य तुलसी का शासन-काल विकास के ऊर्ध्वारोहण का काल है। विकास लक्ष्य-शून्य नहीं होता। लक्ष्य की ओर आगे बढ़ने का नाम है–विकास। लक्ष्य जितना महान होता है, उतनी ही गति की संभावना रहती है।

- **पूज्य गुरुदेव ने लक्ष्य बनाया**–साधु-साध्वियों में शिक्षा का विकास होना चाहिए। एक दशक से अधिक समय इस कार्य की संपन्नता में लगा और हमारे पैर मंजिल तक पहुंच गए।

- **लक्ष्य बना**–धर्म को रूढ़िवाद के कठघरे से निकाल कर उसके सार्वभौम स्वरूप को जनता के सामने प्रस्तुत करना चाहिए। अणुव्रत आंदोलन का सूत्रपात हुआ। असांप्रदायिक धर्म की आचार संहिता ने जनमानस को आंदोलित कर दिया।

- **लक्ष्य बना**–सार्वभौम धर्म की अवधारणा जन-जन तक पहुंचनी चाहिए। अणुव्रत यात्रा का दौर शुरू हुआ। राष्ट्र की आत्मा के साथ एकात्मकता का वातावरण बना।

- **लक्ष्य बना**–जैन विद्या, अनेकांत, अहिंसा और अपरिग्रह का सिद्धांत साहित्य बनकर जनता तक पहुंचना चाहिए। अनेक लेखनियां अविराम गति से चलने लगीं। विपुल साहित्य के साथ-साथ अनेक पत्र-पत्रिकाएं अस्तित्व में आईं–जैन भारती, प्रेक्षाध्यान, युवादृष्टि, तुलसी प्रज्ञा, अणुव्रत, विज्ञप्ति आदि।

- **लक्ष्य बना**–आध्यात्मिक विकास आवश्यक है। धर्म में उपासना प्रमुख बनी हुई है। उसका विकल्प है–चरित्र का विकास। अणुव्रत आंदोलन उसकी संपूर्ति कर रहा है। किंतु नैतिकता को भी सुदृढ़ आधार की जरूरत है। वह आधारभूमि बन सकता है–अध्यात्म।

  संप्रदाय, उपासना, क्रियाकांड, इनमें मतभेद और विवाद हो सकते हैं। अध्यात्म अपनी अनुभूति है, स्वयं की चेतना का जागरण है, इसलिए वह सब विवादों से परे है। इस वैज्ञानिक युग में वही सर्वमान्य धर्म बन सकता है। आध्यात्मिक विकास के लिए प्रेक्षाध्यान का प्रारंभ हुआ। वह अपनी आध्यात्मिकता के कारण सर्वमान्य हो रहा है।

- **लक्ष्य बना**–शिक्षा की प्रणाली सर्वांगीण होनी चाहिए। जीवन-विज्ञान की योजना बनी। कार्यारंभ हो गया। शिक्षा के क्षेत्र में उसका मूल्यांकन किया जा रहा है। दिल्ली, बोकारो जैसे क्षेत्रों में उसके प्रशिक्षण और प्रयोग सघन बन रहे हैं।

- **लक्ष्य बना**–अहिंसा का प्रशिक्षण होना चाहिए। केवल उपदेश और प्रचार से उसका विकास नहीं होता। अहिंसा प्रशिक्षण की प्रविधि तैयार की गई और यत्र-तत्र उसका प्रयोग भी किया गया।

- **लक्ष्य बना**–जैन विद्या के अध्ययन, शोध, अनुसंधान और प्रयोग का कार्य विधिवत प्रारंभ होना चाहिए। चिंतन का परिणाम आया। जैन विश्व भारती की स्थापना हुई। उसका उत्तर चरण है–जैन विश्व भारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय)।

  पूज्य गुरुदेव ने अनेक स्वप्न लिए। हर स्वप्न लक्ष्य बना और हर लक्ष्य ने अपनी पूर्ति के संसाधन जुटाए। फलस्वरूप ज्ञान, दर्शन और चारित्रोन्मुखी प्रवृत्तियों का विस्तार हुआ।

  वि. सं. 2050 माघ शुक्ला सप्तमी (18 फरवरी, 1994) के दिन आपने आचार्यपद का विसर्जन कर मुझे आचार्यपद पर नियुक्त किया। वि. सं. 2051 का चातुर्मासिक प्रवास दिल्ली में हुआ। एक दिन गुरुदेव ने कहा–इस वर्ष मेरा पट्टोत्सव नहीं मनाया जाएगा। मैं अपने

आचार्यपद का विसर्जन कर चुका हूं, फिर पट्टोत्सव क्यों मनाया जाए? गुरुदेव की यह बात हृदयंगम नहीं हुई। मेरी भावना थी–पट्टोत्सव पूर्ववत मनाया जाए किंतु गुरुदेव का बार-बार उपरोध रहा–पट्टोत्सव न मनाया जाए। इस प्रतिवादी विचार से एक संवादिता का जन्म हुआ। मैंने निर्णय किया–पट्टोत्सव को नया रूप दिया जाए, जिससे गुरुदेव की भावना और हमारी भावना–दोनों के मिश्रण से नई प्रजाति बन जाए। वह संवादी प्रणाली है–विकास महोत्सव।

जैसे अनुशासन का प्रतीक पर्व है–मर्यादा-महोत्सव वैसे ही विकास का प्रतीक पर्व है–विकास-महोत्सव। पूज्य गुरुदेव ने एक से अधिक बार कहा–प्रवृत्तियों का विस्तार बहुत हो चुका है। अब इनका नियोजन होना जरूरी है।

पुरुषार्थ के चार प्रयोजन हैं–

1. अलब्ध को पाने की इच्छा
2. लब्ध की प्रयत्नपूर्वक रक्षा
3. रक्षित का संवर्धन
4. संवर्धित का समुचित नियोजन।

हम असीम विकास की कल्पना को मूल्य नहीं देते। जो विकास मानव की समस्याओं को सुलझाने में सहयोगी न बने, मानवीय अस्तित्व के लिए खतरा बने, वह हमें इष्ट नहीं है। हमारा सीमा और सापेक्षता में विश्वास है। विकासमूलक प्रवृत्तियों के नियोजन का तात्पर्य यही है कि ऊंचाई के साथ गहराई भी बढ़े। छितरा हुआ जल भूमि की आर्द्रता के लिए उपयोगी हो सकता है, किंतु उससे बिजली पैदा नहीं की जा सकती, उस पर जलपोत भी नहीं चल सकते। थाली में जल है। उसमें चिड़िया नहा सकती है, किंतु नौका नहीं चल सकती।

तेरापंथ धर्मसंघ हमारे विकास का मूल आधार है। आचार्य भिक्षु ने जो विचार, सिद्धांत, दृष्टिकोण और अनुशासन दिया, उसकी ऊंचाई और गहराई दोनों बढ़े, यह अपेक्षित है।

विकास की गति में दो बड़े विघ्न हैं–1. अहं, 2. एकांगी दृष्टिकोण

हमें समर्पण का मंत्र मिला है और अनेकांत का दर्शन मिला है। समर्पण सत्य के प्रति, सिद्धांत के प्रति, अनुशासन के प्रति, संघ और संघपति के प्रति हो। अहं के विघ्न का विनाशक है–समर्पण। अनेकांत पूर्वाग्रह के निवारण का अमोघ उपाय है।

हमारे विकास की दिशा है–आध्यात्मिक उन्नयन। विकास के साधन हैं–मस्तिष्कीय प्रशिक्षण और हृदय परिवर्तन। विकास की सीमा है–साधन-शुद्धि का विचार।

तेरापंथ धर्मसंघ के पास मर्यादा महोत्सव का दीप और विकास महोत्सव का चक्षु विद्यमान है। हम इन दोनों का उपयोग करें, सत्य को देखें और उसके सहारे आगे बढ़ें।

मेरी प्रत्येक सृजनात्मक प्रवृत्ति, रचनात्मक दृष्टिकोण और कल्पना पूज्य गुरुदेव की प्रेरणा का इतिहास है। विकास महोत्सव उन्हीं की अक्षत प्रेरणा का प्रसाद है। यह हमारे धर्मसंघ की प्रगति के लिए ज्योति-स्तंभ बनेगा*।

* विकास महोत्सव पर दिया गया वक्तव्य।

विकास महोत्सव आधार-पत्र

आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ में नए आयाम उद्घाटित किए, जिससे इतिहास में नए अध्याय का सृजन हुआ। आज से एक सौ तीस वर्ष पूर्व तेरापंथ के भाग्यविधाता जयाचार्य ने तेरापंथ की भाग्यलिपि में कुछ नए अक्षर लिखे मर्यादा व्यवस्था और अनुशासन में रहने वाला संघ ही नया विकास, नया विश्वास पैदा कर सकता है। उसके सामने विकास का असीम अवकाश है। पदार्थ असीम नहीं होता, अध्यात्म जैसा शाश्वत तत्त्व ही असीम हो सकता है। एक सौ तीस वर्ष बाद महोत्सव की श्रृंखला में एक नई कड़ी जुड़ रही है–विकास महोत्सव की। किसी संघ में मर्यादा का महोत्सव मनाया जाता है, विकास का महोत्सव मनाया जाता है, हमने नहीं सुना। हमारे संघ की नियति ही शुभ है। यहां अध्यात्म और विकास के नए-नए आयाम खुलते जा रहे हैं और भविष्य में खुलते रहेंगे।

अब तक हम मर्यादा महोत्सव, भिक्षु चरमोत्सव और वर्तमान आचार्य का पट्टोत्सव–ये तीन महोत्सव मनाते रहे हैं। आज से इसी क्रम में विकास महोत्सव जुड़ रहा है। पूज्य गुरुदेव के पट्टोत्सव का दिन अब से विकास-महोत्सव के रूप में मनाया जाएगा। पूज्य गुरुदेव! तेरापंथ है, तब तक विकास-महोत्सव मनाया जाता रहेगा। इसका आधार हमारा विकास महोत्सव का परिपत्र है। उसमें विकास-महोत्सव की पृष्ठभूमि, उद्देश्य और आधारभूत तत्त्वों की प्रस्तुति है।

परिपत्र की भाषा

'धर्म-शासन की शक्ति का उन्नयन हो, यह गण के प्रत्येक सदस्य का पवित्र मनोरथ होना चाहिए। शक्ति का उन्नयन विकास की प्रक्रिया के द्वारा संभव है। उत्तरोत्तर विकास नहीं होता, तब शक्ति कुंठित हो जाती है, इसलिए विकास की प्रक्रिया निरंतर चलनी चाहिए। आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ का प्रवर्तन (वि. सं. 1817, ईसवी सन् 1760) किया। उन्होंने विकास का बीज-वपन कर दिया। साहित्य के क्षेत्र में उनका अवदान निश्चित रूप से अविस्मरणीय है।

अनुस्मृति है कि हेमराजजी स्वामी की दीक्षा (वि.सं. 1853, ई. सन् 1796) के पश्चात् संघ का चतुर्मुखी विकास शुरू हुआ। श्रीमज्जयाचार्य विकास के मेरुदंड बने। उन्होंने अनुशासन, मर्यादा, व्यवस्था, साहित्य आदि अनेक क्षेत्रों में विकास के कीर्तिमान स्थापित किए। मर्यादा-महोत्सव उनकी दूरदर्शी दृष्टि का परिणाम है।

प्रत्येक आचार्य ने अपने-अपने समय में विकास की कोई न कोई रेखा खींची। तेरापंथ के आधुनिक विकास के मंत्रदाता हैं–पूज्य कालूगणी। उन्होंने संस्कृत और प्राकृत विद्या का बीज-वपन कर तेरापंथ धर्मसंघ को मध्यकालीन जैन युग में प्रवेश करवा दिया तथा साथ-साथ आधुनिक युग में प्रवेश का द्वार खोल दिया।

विकास के शलाकापुरुष हैं–आचार्यश्री तुलसी। आचार्यवर ने शिक्षा, साहित्य, शोध, आगम-संपादन, अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान, जीवन-विज्ञान, अहिंसा-प्रशिक्षण, विहार-क्षेत्र-विस्तार, समण श्रेणी, विदेश-यात्रा आदि विकास के नए-नए आयाम उद्घाटित किए। गुरुदेव की सृजनात्मक प्रतिभा, कल्पना शक्ति और कर्मजा मति ने विकास का मार्ग प्रशस्त किया। हमारी विकास की गति निरंतर आगे बढ़े, इसलिए विकास-महोत्सव की परिकल्पना की गई है।

आचार्यश्री तुलसी की अभिवंदना में भाद्रपद शुक्ला नवमी का दिन विकास महोत्सव के रूप में मनाने का निश्चय किया गया है।

भाद्रपद शुक्ला नवमी के दिन आचार्य तुलसी आचार्य-पद पर अभिषिक्त हुए। प्रतिवर्ष यह दिन 'पट्टोत्सव' के रूप में मनाया जाता है। वि. सं. 2050 माघ शुक्ला सप्तमी, मर्यादा-महोत्सव के दिन सुजानगढ़ में पूज्य गुरुदेव ने आचार्य-पद का दायित्व युवाचार्य महाप्रज्ञ में प्रतिष्ठित कर दिया। अतः अब 'पट्टोत्सव' विकास-महोत्सव के रूप में मनाया जाएगा।

विकास का आधार

मर्यादा-महोत्सव जैसे हमारी संघीय व्यवस्था के लिए आधार-स्तंभ है, वैसे ही विकास-महोत्सव संघीय विकास के लिए आधार-स्तंभ रहेगा। तेरापंथ के विकास के मौलिक आधार हैं–

* अनुशासन–एक आचार्य का नेतृत्व
* अध्यात्म
* अप्रमाद।

अनुशासन के बिना विकास की प्रक्रिया को सुनियोजित ढंग से आगे नहीं बढ़ाया जा सकता।

विकास की दिशाएं

आध्यात्मिक दृष्टि से विकास के पांच बिंदु हैं–

* ज्ञान * चारित्र * दर्शन * तप * वीर्य

संघीय दृष्टि से विकास के चार बिंदु हैं–

* पारस्परिक सौहार्द
* श्रावक समाज की सार-संभाल और संवृद्धि
* सेवा
* विहार क्षेत्र।

सार्वजनिक दृष्टि से विकास के पांच बिंदु हैं–

* जन-संपर्क
* साहित्य
* वक्तृत्व
* संगीत
* कला।

विकास के साधन

* शिक्षा * प्रेक्षाध्यान * स्वाध्याय * जीवन-विज्ञान * अणुव्रत * अहिंसा-प्रशिक्षण * आगम अनुसंधान।

तेरापंथ धर्मसंघ में जैसे मर्यादा की अक्षुण्ण परंपरा है, वैसे विकास की भी अक्षुण्ण परंपरा रहे। आचार्य का कर्तव्य होगा कि वह इस परंपरा को अक्षुण्ण बनाए रखे। पूरे संघ का कर्तव्य है कि वह इस कार्य में संभागी रहे।

विकास के तीन आयाम हैं–

* आगे बढ़ना, रुकना
* पीछे मुड़कर देखना
* समीक्षा करना।

विधि और निषेध–दोनों विकास के अंग हैं। प्रवर्तन और निवर्तन दोनों का समन्वय करके ही विकास की प्रक्रिया को स्वस्थ रखा जा सकता है। कोरी विधि उच्छृंखलता का रूप ले सकती है, कोरा निषेध रूढ़िवाद का रूप ले सकता है। इसलिए विधि और निषेध दोनों का समन्वित प्रयोग करना चाहिए। कोई भी समाज या संगठन विकास को आगे बढ़ाए बिना उपयोगी नहीं बन सकता, इसलिए विकास महोत्सव की स्थापना आवश्यक है। इससे धर्मसंघ तेजस्वी बना रहेगा।

अब तक चतुर्मास, शेषकाल में साधु-साध्वियों के विहार और अवस्थान की प्रार्थना मर्यादा महोत्सव के अवसर पर की जाती रही है। वह समय निर्णय और घोषणा का है। व्यवस्था समीचीन रूप से की जा सके, इसलिए अपेक्षित हो गया है कि श्रावक समाज अपनी प्रार्थना विकास महोत्सव के अवसर पर प्रस्तुत करे, जिससे भविष्य का निर्णय करने में सुविधा हो। केंद्र के चतुर्मास और मर्यादा-महोत्सव की प्रार्थना भी विकास-महोत्सव से प्रारंभ की जा सकती है। गत वर्ष के विकास का लेखा-जोखा और आगामी वर्ष की योजना तथा विकास-कार्य में साधु-साध्वियों, श्रावक-श्राविकाओं की नियुक्ति की परिकल्पना भी इसी समय की जाए, यह अपेक्षित है। ❑

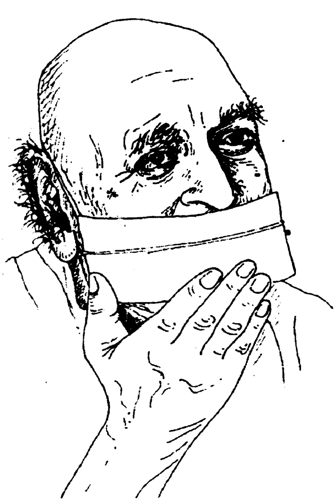

मेरी आकांक्षा : मानवता की सेवा

आचार्य श्री तुलसी

मेरा जन्म उस समय हुआ जब अंग्रेजी राज्य पूरे प्रभाव पर था। उस समय आम जनता अपने आपको अंग्रेजी शासन में सुखी महसूस कर रही थी। शताब्दियों की राजनीतिक दासता के कारण न्याय, स्वतंत्रता और समानता के स्वर मंद हो चुके थे। उन्नीसवीं सदी में कुछ व्यक्तियों ने साहस करके आवाज उठाई थी, पर तब तक जनमत जागृत नहीं हुआ था। लोकतंत्र और समाजवाद के संदर्भ में कभी जोरदार बहस नहीं हुई थी। इसलिए न तो किसी की आंखों में भारत की स्वतंत्रता का सपना था और न ही उस सपने को साकार करने की बेचैनी थी। उस दिन भारतीय लोगों की मानसिकता कैसी थी? पर धीरे-धीरे वे विदेशी दासता झेलने के अभ्यस्त हो गए थे। उस समय भारत के वायसराय लार्ड हार्डिंग का देश पर जबरदस्त प्रभाव था। इस प्रभाव का एक कारण था वायसराय का उदारतावादी दृष्टिकोण। उसने कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों संस्थाओं को अपने निकट लेने का प्रयत्न किया। राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना सन् 1885 में हो चुकी थी, किंतु बीसवीं शताब्दी में प्रवेश करने के बाद राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास में गहरी खामोशी छा गई थी। शायद वह आनेवाले तूफान से पहले की खामोशी थी। सन् 1914-18 के बीच दो महत्त्वपूर्ण घटनाएं घटीं–प्रथम विश्वयुद्ध तथा भारत की राजनीति में महात्मा गांधी का उदय। इन दोनों घटनाओं का भारत की राष्ट्रीय स्थितियों पर गहरा प्रभाव पड़ा। उस समय की राजनीतिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय गतिविधियों में मेरी कोई सक्रिय साझेदारी नहीं थी। फिर भी मैं जानता हूं कि यह सब मेरे जमाने में घटित हो रहा था।

राष्ट्रीय की नई लहर

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद भारतीय लोगों में राष्ट्रप्रेम की एक नई लहर आई। गांधीजी कांग्रेस के साथ जुड़े और एक व्यापक जन-आंदोलन शुरू हो गया। गांधीजी अपने ढंग के एक ही व्यक्ति थे। एक ओर अहिंसा के प्रति उनकी प्रगाढ़ आस्था, दूसरी ओर राष्ट्र के प्रति अगाध प्रेम। उन्होंने दो में एक रास्ते को

चुनना पसंद नहीं किया। उनका संकल्प था–'अहिंसा के बल पर राष्ट्र को स्वतंत्र कराना।' उनके आगमन से देश की राजनीति में नई चेतना का संचार हुआ, नई सोच का विकास हुआ और उसकी क्रियान्विति के लिए नए-नए उपायों की खोज हुई। पूरे देश में स्वतंत्रता की आवाजें गूंज उठी। सन् 1929 में असहयोग आंदोलन का सूत्रपात व्यापक जन-संघर्ष के रूप में सामने आया। देश की युवा पीढ़ी आंदोलन के साथ जुड़ी। हजारों लोग जेलों में गए। वहां उन्हें शारीरिक एवं मानसिक यातनाएं झेलनी पड़ी। फिर भी पूरे देश में आजादी की चेतना जागृत हो चुकी थी। यह उस समय की बात है, जब अंग्रेजों की शक्ति निखार पर थी। उनके राज्य में सूर्य अस्त नहीं होता था और किसी को यह भरोसा नहीं था कि भारत अपने पांव पर खड़ा होकर स्वतंत्र रूप से काम कर सकता है। ये सब घटनाएं मेरे देखते-देखते घटित हुई। इनमें मेरी भागीदारी का जहां तक सवाल है, उस समय तक मैं अपनी उम्र के उस मोड़ तक नहीं पहुंचा था, जहां से छलांग भरकर कुछ कर पाता, किंतु भीतर-ही-भीतर ऐसी भावनाएं जन्म ले चुकी थीं, जो मुझे व्यक्ति और परिवार की सीमाओं से ऊपर उठाकर राष्ट्र के बारे में सोचने के लिए सचेत कर रही थीं।

सतह पर शांति, तल पर ज्वालामुखी

एक ओर अंग्रेजों का स्थापित वर्चस्व, दूसरी ओर आंतरिक वर्चस्व के आधार पर स्वतंत्रता की लड़ाई करने के लिए उद्यत सेनानी। अंतर्द्वंद्व दोनों तक था। सत्ता के शीर्ष पर खड़े लोग वहां से हटने की मानसिकता में नहीं थे और राष्ट्रीय प्रेम के गलियारे में खड़े लोग सत्य और अहिंसा की सोपान पर चढ़कर अपने राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक मूल्यों को सरक्षण देने के लिए कृतसंकल्प थे। सत्ता के दरवाजे से हिंसा बाहर आई और उसने जनभावना को कुचलने के साथ-साथ जनता को कुचलना शुरू कर दिया। राष्ट्रवादी लोगों की हिंसा के साथ सहमति नहीं थी। उन्होंने गांधीजी के नेतृत्व में असहयोग आंदोलन को तीव्र किया, सत्याग्रह आंदोलन शुरू किया और 'भारत छोड़ो' आंदोलन में अपनी संपूर्ण शक्ति का नियोजन कर दिया। देश में उथल-पुथल मच गई। बड़ी-बड़ी सभाएं आयोजित होने लगीं। बीस-तीस हजार लोगों की वे सभाएं संख्या की दृष्टि से ही नहीं, भावना की दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण थी। शहरों से लेकर गांवों तक उन सभाओं की चर्चा थी। उनके अनुकरण में छोटे-छोटे बच्चे भी अपने संगठन बनाकर आजादी की लड़ाई लड़ने के लिए उतावले हो उठे थे। ये सब स्थितियां मैंने अपने जमाने में देखीं, सुनीं। उन दिनों की राजनैतिक उथल-पुथल मचा दी। उससे मैं इतना अधिक प्रभावित हुआ कि घर और परिवार छोड़कर साधु बन गया। पूज्य गुरुदेव कालूगणी के चरणों में स्वयं को समर्पित कर मैंने आध्यात्मिक ऊर्जा प्राप्त की। उस ऊर्जा को और अधिक बढ़ाने एवं जनहित में उसका उपयोग करने का एक नन्हा संकल्प मेरे मन में जाग उठा था।

मैं उस संकल्प को पोषण देता हुआ आगे बढ़ रहा था। ग्यारह वर्ष का समय कब पूरा हो गया, कुछ पता ही नहीं चला। गुरुदेव की निकट सन्निधि का दुर्लभ समय मेरे व्यक्तित्व-निर्माण का महत्त्वपूर्ण समय था। गुरुदेव अमृत दृष्टि में मेरा छोटा-सा प्रतिबिंब बना और अचानक ही वे मुझे छोड़कर चले गए। उनका स्वर्गारोहण मेरे युवा कंधों पर एक विशाल धर्मसंघ के नेतृत्व का बोझ आहिस्ता से रखा गया। उस समय सब कुछ अपनी जगह पर पूर्ववत स्थिर था। केवल गुरुदेव का साया नहीं था। राजनीतिक हलचल के उस माहौल में मैंने एक नया दायित्व ओढ़ा। मेरे दिमाग में भी कुछ हलचल थी, पर उसे अभिव्यक्ति देने के लिए जिस वातावरण की जरूरत थी, वह सामने नहीं था। इसलिए मैं भीतर-ही-भीतर अत्यंत सक्रिय होने पर भी ऊपर से बिलकुल शांत था। सतह पर शांति और तल पर ज्वालामुखी जैसी स्थिति थी उस समय।

स्वतंत्रता की प्राप्ति

तब तक राष्ट्रवादी आंदोलन ने उपनिवेशवाद की जड़ों को खोदना शुरू कर दिया था। पंचायत व्यवस्था को मजबूत बनाने का प्रयत्न किया गया। अधिकांश लोगों को यह विश्वास होता जा रहा था कि हिंदुस्तान

एक दिन स्वतंत्र होकर रहेगा, किंतु कुछ लोग ऐसे भी थे, जिनकी आस्था अंग्रेजी शासन में थी। हिंदुस्तान लोग या कांग्रेसजन शासन-सूत्र संभालने में सफल हो सकेंगे, ऐसा वे सोच ही नहीं पा रहे थे। फिर भी आंदोलन अपनी गति से चल रहा था। आखिर अंग्रेजों के पांवों के नीचे से जमीन खिसकने लगी। उन्हें भारत छोड़कर पुन: अपने देश लौटना पड़ा। सन् सैंतालीस के वे ऐतिहासिक लमहे भारतवासियों के स्वर्णिम लमहे थे, जब 'कई सौ वर्षों की राजनीतिक दासता भोगने के बाद भारत ने स्वतंत्रता की सांस ली थीं। महात्मा गांधी ने अहिंसा के आधार पर देश को आजाद कर एक मिसाल कायम की थी। देशवासी खुशियों से झूम उठे थे। एक समय आया जब लौहपुरुष सरदार पटेल ने लगभग सभी देशी रियासतों का एकीकरण कर एक अखंड भारत का स्वरूप उजागर कर दिया था। यह काम अपने आप में एक महाभारत था। सरदार वल्लभभाई पटेल ने इस महाभारत को जीतकर इतिहास को एक नया मोड़ दिया। यह सब मैंने अपनी आंखों से देखा था, कानों से सुना था।

सामाजिक परिस्थिति

देश की आजादी के समय समाज में पंचायतों का काफी प्रभाव था। चिंतनशील लोगों की पंचायत व्यवस्था के बारे में मिश्रित प्रतिक्रिया थी। कुछ लोग उसमें अच्छाई देख रहे थे। कुछ लोगों को बुराई-ही-बुराई नजर आ रही थी। वैसे हर व्यवस्था में अच्छाई-बुराई के अंश विद्यमान रहते हैं। उस समय पंचायत के आदेश बिना कोई भी व्यक्ति कोई बड़ा काम नहीं कर सकता था। शादी-विवाह आदि के प्रसंग में कौन व्यक्ति कितना खर्च करे, यह व्यवस्था पंचायत द्वारा निर्धारित होती थी। पंच संबंधित व्यक्ति की आर्थिक स्थिति का अध्ययन करने के बाद उसे व्यवस्था दिया करते थे।

उस समय समाज में जैसे संस्कार थे, विदेशी संस्कृति के प्रति नफरत के भाव थे। कोई हिंदुस्तानी विदेश चला जाता, उसे पंचायत के द्वारा जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता था। उसके साथ रोटी-बेटी का व्यवहार बंद कर दिया जाता था। नजदीकी रिश्तों में इतनी गहरी दरार पड़ जाती कि भाई-भाई बेगाने बन जाते थे।

समाज में बाल-विवाह का प्रचलन अधिक था। छोटे-छोटे बच्चों की शादियां कर दी जाती थीं। बच्चों को थाली में बिठाकर शादी की रस्म पूरा करने की परंपरा भी प्रचलित थी। इसी प्रकार वृद्ध विवाह पर भी कोई अंकुश नहीं था। संपन्न व्यक्ति किशोरियों के साथ विवाह रचाते, फिर भी उनके विरोध में कोई आवाज नहीं उठती थी।

स्त्री की दशा बहुत उन्नत नहीं थी। उसे शिक्षा का कोई अधिकार नहीं था। विशेष रूप से राजस्थान में तथा अन्य प्रदेशों के देहातों-गांवों में स्त्रियों को भोग्य सामग्री से अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता था। चमकीले-भड़कीले परिधान और आभूषणों के व्यामोह में उनका चिंतन भी कुंठित था। ससुराल के मुहल्ले में प्रवेश करते ही उसे अनिवार्य रूप से पर्दे में रहना पड़ता था। ससुर, जेठ आदि कहीं बैठे हो तो उनके आगे से वे उस रास्ते को पार नहीं कर सकती थी।

पति की मृत्यु के बाद विधवा स्त्री की जो दुर्दशा होती, आज तो उसकी कल्पना ही की जा सकती है। उसे वर्षों तक घर के कोने में अपनी जिंदगी बितानी पड़ती। काले वस्त्र पहनना उसकी नियति बन जाती। उसकी सारी हंसी-खुशी छीन ली जाती। घर में किसी भी शुभ या मंगल कार्य के अवसर पर उसकी उपस्थिति को अपशकुन माना जाता। न जाने कितनी शारीरिक और मानसिक यातनाएं उसे विवश होकर झेलनी पड़ती थीं।

मृत्युभोज उस समय सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रश्न बना हुआ था। जीते-जी मां-बाप की सेवा करते या नहीं, मरने के बाद भोजन जरूरी था। जिनकी आर्थिक स्थिति ठीक होती, वे सिर पर कर्ज लेकर भी मृत्युभोज की परंपरा को निभाते थे और स्वयं को गौरवशाली अनुभव करते थे। अन्य अनेक प्रकार की सामाजिक कुरूढ़ियों का दबदबा था। यह सब मैंने बहुत नजदीक से देखा है।

धार्मिक वातावरण

बहुत ही विचित्र स्थिति थी उस समय की। कोई भी समाज-सुधारक समाज व्यवस्था को बदलने की बात करता, उसका मुंह बंद कर दिया जाता था। जो नेता

इस संबंध में थोड़ी-सी भी आवाज उठाते, उनको टिकने नहीं दिया जाता था। साधु-साध्वियां भी रूढ़ सामाजिक परंपराओं के कट्टर समर्थक थे। यदि कोई बहन घूंघट हटाने की बात करती तो उसे कड़ी डांट सुननी पड़ती थी। विधवा स्त्री स्थापित मानदंड से इधर-उधर कदम रख देती तो उसे व्यंग्य-बाणों से बींध दिया जाता था।

धर्म की स्थितियों में भी मैंने बहुत उतार-चढ़ाव देखे हैं। उस समय धर्म रूढ़ धारणाओं में कैद हो चुका था। उसमें क्रियाकांड प्रधान हो गए और आचार-तत्त्व गौण हो गया। इस क्रम में किसी प्रकार के बदलाव की कोई गुंजाइश नहीं थी। अनेक विचारशील लोग धर्म के इस खोखलेपन को समझते थे, पर उसके विरोध में एक भी शब्द बोलने की स्थिति में नहीं था। जो कुछ जिस ढंग से चल रहा है, उसे वैसे ही चलाने दिया जाए तो ठीक अन्यथा बागी होने का खिताब तैयार था। ऐसी परिस्थिति में नई बात सोचना और उसकी क्रियान्विति के लिए कदम उठाना, बहुत ही साहस की बात थी।

भविष्य का चिंतन

उन दिनों मैं विचित्र प्रकार के मानसिक द्वंद्व को पाल रहा था। मेरे कंधों पर विशाल धर्मसंघ का दायित्व था। संघ के सर्वांगीण विकास की जिम्मेवारी मुझ पर थी। सामाजिक परिवेश मुझे सोचने के लिए विवश कर रहा था। इधर नैतिक मूल्यों का तकाजा था तो उधर मानवीय दृष्टिकोण से काम करने की प्रेरणा जाग चुकी थी। महात्मा गांधी पर जिस ढंग से गोली दागी गई, मानवता चीत्कार उठी। गांधीजी के जाने से देश के भीतर जो महाशून्य पैदा हो गया था, उसे भरनेवाला भी कोई दिखाई नहीं दे रहा था। कुल मिलाकर मैं बहुत असमंजस में था। जो स्थिति मेरे सामने थी, उसे यथावत रखकर चलना कोई कठिन काम नहीं था, पर उसे बदलना मोम के दांतों से लोहे के चने चबाना जैसा था। उस द्वंद्वात्मक स्थिति में मेरा साथ देने वाले साधु-साध्वियां और सामाजिक कार्यकर्ता कहां थे? जो दो-चार लोग थे, उन्हीं को सामने रखकर मैंने चिंतन किया। भारत के भविष्य का चिंतन। उसके सामाजिक ढांचे का चिंतन। मैं देख रहा था कि प्रवाह को रोका जाएगा तो वह रुकेगा नहीं। समय का प्रवाह इतना तीव्रगामी है कि वह इमारतों को उखाड़कर फेंक देगा, पर अपना रास्ता अवश्य बनाएगा। ऐसी स्थिति में परिवर्तन समय की मांग है। चिंतनपूर्वक परिवर्तन करने वाला आगे बढ़ जाएगा।

दो स्थितियों के बीच में

मैं जिस धर्मसंघ का नेतृत्व कर रहा हूं, वह जैन श्वेतांबर तेरापंथ धर्मसंघ के नाम से पहचाना जाता है। एक आचार्य का नेतृत्व और एक संविधान का पालन-अन्य जैन संघों से इसकी स्वतंत्र पहचान है। इस धर्मसंघ में आचार्य 'सर्वोपरि' होते हैं। वर्तमान में वह बदलाव के अनेक मोड़ों को पार कर प्रगति के पथ पर अपनी गति से बढ़ रहा है, किंतु उस समय यह पूरी तरह से कट्टर और पुराणपंथी था। न शिक्षा का आधुनिक विकास और न नई प्रवृत्तियां। पूर्वाचार्यों द्वारा खींची गई लकीरों पर चलना–इसी मानसिकता को प्रशस्त माना जाता था। मारवाड़ी में बोलना और लिखना–इतना-सा क्रम था। न साहित्य और न किसी नए सृजन की तैयारी। यद्यपि हमारे पूर्वाचार्यों ने अपने-अपने समय में काफी काम किया और उत्तरवर्ती आचार्यों को काम करने का पूरा अवकाश दिया, किंतु समाज की मानसिकता कभी यह नहीं रही कि कोई आचार्य नई लकीरें खींच, उनको सहजता से स्वीकार कर ले। विरोध और वितर्कणा के बाद आचार्यों का चिंतन मान्य होता रहा है, पर प्रारंभ में कठिनाइयां कम नहीं आतीं।

उस समय मेरे सामने दो स्थितियां थीं–विरासत से प्राप्त अनुशासित एवं संगठित धर्मसंघ की सुरक्षा करना तथा धर्मसंघ की मौलिकता को सुरक्षित रखते हुए उसे युगीन विकास की दिशा देना।

इन दोनों स्थितियों के साथ एक नया दृष्टिकोण सामने आया। उसके अनुसार हमें तेरापंथ समाज तक ही सीमित न रहकर व्यापक संदर्भों में काम करना था, पूरी मानव जाति को आध्यात्मिक पथदर्शन देना था। दृष्टिकोण बहुत प्रशस्त था, पर काम इतना सरल नहीं था। उसके लिए हमारी समुचित तैयारी भी नहीं थी।

एक ओर वातावरण अनुकूल नहीं था तो दूसरी ओर साधु-साध्वियां कार्यकर्ताओं का निर्माण नहीं हुआ था। ऐसी स्थिति में इतना बड़ा काम हाथ में लेना जोखिम भरा कदम उठाना थां, किंतु मैंने निर्णय कर लिया कि परिस्थितियों की अनुकूलता की प्रतीक्षा में समय बरबाद किए बिना हमें काम शुरू कर देना चाहिए।

अपने निर्णय की क्रियान्विति से पहले मैंने समाज को चिंतन देना शुरू किया–शरीर की स्वस्थता और सुरक्षा के लिए मनुष्य को ऋतु के अनुसार परिवर्तन करना पड़ता है। वह अपनी वेशभूषा बदलता है, खानपान बदलता है, रहन-सहन बदलता है और दिनचर्या बदलता है। यह बदलाव न हो तो शरीर स्वस्थ नहीं रह सकता। धर्मसंघ के स्वास्थ्य और विकास के लिए भी यह आवश्यक है कि हम मूल को सुरक्षित रखते हुए विवेकपूर्ण परिवर्तन करें।

जिस समय मैंने धर्मसंघ के सामने उक्त विचार प्रकट किए, मेरे पास एकमात्र गुरुकृपा का संबल था। उसके सहारे मैंने चिंतन को विस्तार दिया और विरोधों-अवरोधों के बावजूद मुझे अपने संपूर्ण धर्म-परिवार का सक्रिय सहयोग मिला। उस सहयोग से मेरी कार्यक्षमता बढ़ी और एक के बाद एक नए-नए कार्यों का प्रारंभ होता गया।

अणुव्रत

मैंने सबसे पहले अणुव्रत का काम हाथ में लिया। व्यापक कार्यक्षेत्र में प्रवेश करने का यह प्रथम अवसर था। अनुकूल और प्रतिकूल दोनों प्रकार की प्रतिक्रियाओं ने मुझे कुछ क्षण आत्मचिंतन के लिए प्रेरित किया। चिंतन के क्षणों में कभी-कभी ऐसा महसूस हुआ कि सिर पर से एक झंझावात गुजर रहा है। गुरुकृपा से वह भी पार हो गया। 'अणुव्रत' मिशन को लक्ष्य बनाकर मैंने देशव्यापी यात्राएं कीं। पंजाब से कन्याकुमारी और कच्छ से कलकत्ता तक लगभग पचास-साठ हजार किलोमीटर की पदयात्राओं में लाखों-लाखों लोगों से सीधा संपर्क किया। परिचय बढ़ा, अनुभव बढ़े और नई दृष्टियां मिलीं। अणुव्रत का उद्देश्य है मनुष्य को सही अर्थ में मनुष्य बनाना। इसके लिए जो आचार-संहिता निर्धारित की गई, उसमें अहिंसा, आक्रमण, मानवीय एकता, धार्मिक सहिष्णुता, व्यसन-मुक्ति, रूढ़ि-मुक्ति तथा आर्थिक और राजनीतिक भ्रष्टाचार से मुक्त रहने की दृष्टि से ग्यारह नियम है। नियम बहुत सामयिक और उपयोगी हैं, पर केवल उपदेश के आधार पर उनका पालन हो सके, यह संभव नहीं लगा। संकल्पशक्ति की शिथिलता भी एक कारण थी, जो व्रतों के प्रति निष्ठा होने पर भी आचरण तक पहुंचने में बाधक बन रही थी। इस स्थिति में प्रायोगिक दृष्टि से सोचने की जमीन तैयार कर दी।

प्रेक्षाध्यान और जीवन-विज्ञान

व्रत या धर्म को जीवनगत बनाने की एक प्रायोगिक प्रक्रिया हैं–प्रेक्षाध्यान। लगातार पंद्रह वर्ष की खोज और प्रयोग से परिपक्व इस प्रक्रिया से धर्म के क्षेत्र में क्रांति की नई लहर आ रही है। इस ध्यानपद्धति का प्रभाव नाड़ीतंत्र और ग्रंथितंत्र पर होता है। इससे ग्रंथियों के स्राव बदलते हैं। यह स्वभाव-परिवर्तन अथवा व्यक्तित्व के रूपांतरण का प्रयोग है। वर्षों से बनी हुई अवांछनीय आदतों को उपदेश के सहारे मोड़ देने में सफलता नहीं मिलती, पर दस दिनों के प्रेक्षाध्यान से व्यक्ति उन आदतों से काफी अंशों में मुक्त हो जाता है। सिगरेट और शराब का व्यसन ध्यान के अभ्यास से छूट जाता है। गुस्सा, निराशा आदि आवेगों पर इसके द्वारा नियंत्रण किया जा सकता है। सरल उपाय और प्रत्यक्ष लाभ। इसमें श्वासप्रेक्षा, शरीरप्रेक्षा, चैतन्यकेंद्र प्रेक्षा, अनुप्रेक्षा, लेश्याध्यान, योगासन, कायोत्सर्ग आदि का निश्चित अभ्यास क्रम है। प्रेक्षाध्यान के अभ्यास से शारीरिक और मानसिक दृष्टि से अनेक प्रकार के लाभ होते हैं, पर इसके प्रयोग का मूलभूत उद्‌देश्य है–चित्त की निर्मलता। प्रेक्षाध्यान के अभ्यास से क्या होता है, कैसे होता है आदि प्रश्नों का उत्तर शब्दों में नहीं, क्रिया से लेना जरूरी है। किसी के मन में जिज्ञासा हो, दस दिन अभ्यास करके देख ले, परिणाम अपने आप सामने आ जाएगा। प्रेक्षाध्यान का यह कार्यक्रम भी अणुव्रत

की भांति व्यापक हो गया। इस काम का प्रमुख रूप से मेरे उत्तराधिकारी युवाचार्य महाप्रज्ञ चला रहे हैं। उनके निदेशन में अनेक प्रशिक्षक तैयार हो गए हैं। प्रबुद्ध वर्ग में प्रेक्षाध्यान के प्रति सर्वाधिक आकर्षण है। इसका साहित्य भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। यह अणुव्रत का पूरक कार्यक्रम है।

प्रेक्षाध्यान का ही एक विशेष प्रयोग है—जीवन-विज्ञान। नई शिक्षानीति पर हुई बहस के दौरान इसकी प्रासंगिकता बढ़ गई। यह बच्चों के बौद्धिक और भावनात्मक विकास के संतुलन का उपक्रम है। शिक्षाधिकारियों एवं शिक्षकों के बीच जीवन-विज्ञान के अनेक शिविर आयोजित हो चुके हैं। इसकी पाठ्यपुस्तकें भी तैयार हो गई हैं। कुल मिलाकर यह एक ऐसा काम है, जिसकी आज बहुत अधिक अपेक्षा है।

अन्य प्रवृत्तियां

कुछ-न-कुछ करते रहना मेरे जीवन की हॉबी हो गई। अपने कार्यक्रमों को संचालित करने और स्थायित्व देने में अब मुझे अपने साधु-साध्वियों और समाज का पूरा सहयोग प्राप्त है। समाज में ऐसी कई संस्थाएं खड़ी हो गई हैं, जो अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान आदि लोकहितकारी व्यापक कार्यक्रमों को आगे बढ़ा रही हैं। जैन विश्वभारती एक ऐसी संस्था है, जहां एक साथ सात प्रवृत्तियों का संचालन होता है। शिक्षा, साधना, शोध, सेवा, साहित्य, संस्कृति और समन्वय के क्षेत्र में यह संस्था अपने ढंग से काम कर रही है। पारमार्थिक शिक्षण संस्था आध्यात्मिक जीवन जीने के लिए इच्छुक भाई-बहनों की शिक्षा, साधना आदि सारी जिम्मेवारियां आत्मनिर्भर होकर निभा रही है। समणश्रेणी मेरे जीवन के एक चिरपालित स्वप्न का सफलीकरण है। साधु और गृहस्थ के बीच की यह कड़ी मेरे कार्यक्रमों को अंतरराष्ट्रीय जगत तक पहुंचाने में सक्षम हो सकती है। साप्ताहिक, मासिक, त्रैमासिक आदि अनेक पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से नैतिक एवं आध्यात्मिक विचारों को जन-जन तक पहुंचाने का काम भी काफी व्यवस्थित रूप में चल रहा है। यात्रा और जनसंपर्क का जो सिलसिला लगभग चालीस वर्ष पूर्व शुरू किया था, वह उत्तरोत्तर वर्धमान गति से चल रहा है।

मानवता के लिए समर्पण

तब से अब (सन् 1914-1987) तक मैंने जो कुछ देखा, समझा, अनुभव किया और काम किया, वह एक-एक कर मेरी आंखों के सामने आ रहा है। कहां वह छोटा-सा दायरा और कहां यह व्यापकता! कहां वे जीवन के रास्ते में आनेवाले आरोह-अवरोह और कहां यह सीधा राजपथ! कहां वे ठहराव के क्षण और कहां यह जीवंत आंदोलन! कहां वह कल्पना की खूबसूरती और कहां कष्ट, संघर्ष व आशा-निराशा के सम्मिश्रण से जनमी हुई कठोरता। इन सबको देखते-देखते संवेदनाओं का एक अथाह सागर मेरे सामने लहरा रहा है। आज जो कुछ मैं देख रहा हूं, कर पा रहा हूं, उसके पीछे गहरी तपस्या और साधना हैं। कितनी कठिनाइयों को पार कर मैं आज इस स्थिति में पहुंचा हूं। उस समय अगर मैं कठिनाइयों में उलझ जाता तो आगे नहीं बढ़ पाता, काम नहीं कर पाता। वर्तमान की उलझन भविष्य को संवार जाती है, ऐसा मुझे दृढ़ विश्वास हो गया है।

उलझनें अब भी आती हैं, पर आज स्थिति दूसरी है। उस समय हमारे कार्यक्रमों की मजाक होती थी, आज उनको राष्ट्रीय स्तर पर मान्यता मिल चुकी है। मेरी आकांक्षाएं अभी तक पूर्ण नहीं हुई है। मैं जब तक जीवित रहूं, मानवता के लिए समर्पित रहकर जीऊं और अविश्रांत भाव से काम करता रहूं, यह मेरी बड़ी आकांक्षा है।

मैं जानता हूं कि समय को किसी लॉकर में बंद करके रखा नहीं जा सकता। यह अपनी गति से बहता रहेगा। मेरी जीवनयात्रा के इस बहाव में किसी भी मोड़ पर ऐसा ठहराव न आए, जहां मैं मानवता की सेवा से वंचित रह जाऊं। अपनी पूरी जिंदगी को मानवता के लिए समर्पित कर मैं निश्चिंत हूं। मानव-मानव के सुख-दुःख की जीवंत भागीदारी को महसूसता हुआ मैं अपने जीवन को अधिक सक्रिय देखना चाहता हूं। ❐

शिक्षा का एक प्रारूप

आचार्य तुलसी

मनुष्य विवेकसंपन्न प्राणी है। विवेक चेतना के सहारे वह अपने लिए करणीय एवं अकरणीय के बीच भेदरेखा कर सकता है। जहां विवेक का विकास नहीं होता, वहां अकरणीय भी करणीय बन सकता है। एक समय था, जब मानव-जीवन में चरित्र का मूल्य था। आज पुराने मूल्य-मानक बदल गए। अब मनुष्य की प्रतिष्ठा का आधार अर्थ बन रहा है। आर्थिक प्रभाव के बढ़ने से समाज में अनेक प्रकार की बुराइयां पनप रही हैं। अर्थ का प्रलोभन इतना जबरदस्त होता है कि वह व्यक्ति को उन्मार्गगामी बना देता है। और तो क्या, शिक्षा का क्षेत्र भी अर्थ के अनपेक्षित प्रभाव से अछूता नहीं है। स्थिति यहां तक बनी है कि शिक्षा-प्राप्ति का उद्देश्य भी अर्थार्जन तक सीमित हो गया है। तत्त्वतः देखा जाए तो शिक्षा का उद्देश्य है–जीवन-विकास या आत्म-जागरण। यह उद्देश्य स्पष्ट होता, शिक्षा के क्षेत्र में काम करने वालों को आत्मसात होता तो शिक्षा जगत में इस प्रकार की धांधली या अव्यवस्था को स्थान नहीं मिलता।

विकास के सोपान

जीवन-विकास के तीन सोपान माने गए हैं– दर्शन, ज्ञान और चरित्र। जहां इन तीनों का समुचित योग होता है, वहां विकास की दिशाएं आगे-से-आगे खुलती चली जाती हैं। इनमें पहला तत्त्व है–दर्शन। दर्शन का अर्थ है श्रद्धा। व्यक्ति की श्रद्धा सम्यग होती है तो विकास का धरातल तैयार हो जाता है, क्योंकि सम्यग दर्शनी ही सम्यग ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। जब तक व्यक्ति का दृष्टिकोण सही नहीं होता, वह हेय को उपादेय मान लेता है और उपादेय की उपेक्षा कर देता है। इसलिए सबसे पहले दृष्टिकोण की समीचीनता पर ध्यान देना आवश्यक है।

सम्यग् दर्शन और सम्यक् ज्ञान– इन दो तटों के बीच बहने वाला चरित्र का प्रवाह जीवन को सरसब्ज बना सकता है, स्वस्थ जीवन की आधारशिला रख सकता है। विद्यार्थियों के लिए यह आवश्यक है कि वे इन तीनों तत्त्वों को विशद रूप में समझें, जीवन को इनसे भावित करें और विकास का पथ प्रशस्त करें। विद्यार्थियों का विकास प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में समाज का विकास है। स्वस्थ समाज की संरचना के लिए आवश्यक है कि विद्यार्थियों के जीवन में दर्शन, ज्ञान और चरित्र की सम्यग् युति हो।

संस्कार-निर्माण का दायित्व

शिक्षा-प्राप्ति का प्रारंभिक काल विद्यार्थी के जीवन का स्वर्णिम काल है। इस काल में जीवन को जो दिशा मिलती है, उसके आधार पर जिंदगी बनती है। सवाल एक ही है कि विद्यार्थियों को सही दिशा देने की जिम्मेदारी किसकी है? माता-पिता अपने बच्चों को स्कूल में दाखिला दिलाकर निश्चिंत हो जाते हैं। वे समझते हैं कि बच्चों की शिक्षा और संस्कार-निर्माण का दायित्व शिक्षकों पर है। शिक्षक सोचते हैं कि उनके पास तो बच्चे पांच-सात घंटों के लिए आते हैं।

इतने समय में वे उनको केवल पुस्तक ही पढ़ा सकते हैं। संस्कार-निर्माण के लिए न तो उनके पास समय है और न ऐसा कोई दायित्व उन्हें सौंपा गया है।

स्कूल से घर आने के बाद विद्यार्थी को उसके घर और पास-पड़ोस का वातावरण प्रभावित करता है। यदि घर का वातावरण प्रदूषित है, परिवार के सदस्य धूम्रपान करते हैं, ताश-चौपड़ खेलते हैं तो विद्यार्थी उनसे क्या सीखेंगे? सास-बहू के बीच लड़ाई होती रहे, गाली-गलौच की भाषा प्रयुक्त होती रहे तो विद्यार्थियों की मानसिकता पर क्या प्रभाव होगा? ऐसे वातावरण में शिक्षा नीचे दब जाती है और संस्कारों में विकृति घुल जाती है।

प्राचीनकाल में विद्यार्थियों को गांव-शहर से दूर एकांत स्थान में चलने वाले गुरुकुलों में शिक्षा दी जाती थी। वे बारह वर्षों तक घर-परिवार के वातावरण से सर्वथा अपरिचित रहते थे। उनके लिए गुरु ही सब कुछ होते थे। गुरु भी चरित्रसंपन्न होते थे। उनका जीवन देखकर विद्यार्थी बिना पढ़ाए ही चरित्र की शिक्षा ग्रहण कर लेते थे। गुरुकुलों में विद्यार्थी को श्रम एवं स्वावलंबन की शिक्षा मिलती थी। उनके लिए खेल एवं मनोरंजन की व्यवस्था भी होती थी, पर सबसे पहले इस बात पर ध्यान दिया जाता था कि उनका चरित्र समुन्नत रहे। चरित्रसंपन्न विद्यार्थी परिवार, समाज एवं देश के लिए वरदान प्रमाणित होते थे।

पिता का पत्र शिक्षक के नाम

वर्तमान में गुरुकुल-व्यवस्था समाप्त प्रायः हो चुकी है। स्कूल और कॉलेज के साथ हॉस्टल की व्यवस्था जुड़ रही है, पर गुरुकुल एवं हॉस्टल में बहुत बड़ा अंतर है। गुरुकुल में पूरी जीवनशैली का प्रशिक्षण मिलता था। संयम, अनुशासन, श्रम, स्वावलंबन, सहयोग, सेवा, सहिष्णुता आदि मूल्यों का प्रशिक्षण दिया जाता था। हॉस्टल में थोड़ा बहुत ऊपर का अनुशासन रहता होगा, पर अन्य जीवन-मूल्यों की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। ये मूल्य जीवन के लिए कितने आवश्यक है, यह अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन के एक पत्र से जाना जा सकता है। लिंकन ने अपने पुत्र के शिक्षा गुरु के नाम जो पत्र लिखा था, उसके कुछ अंश यहां प्रस्तुत हैं—

मेरे प्रिय प्रधानाचार्य!

मैं जानता हूं कि मेरे बेटे को यह सीखना होगा कि सभी लोग न्यायपरायण नहीं होते, सभी सच्चे नहीं होते, लेकिन उसे यह भी सिखाओ कि हर दुष्ट के मुकाबले में एक शूरवीर भी होता है। उसे यह सिखाओ कि हर शत्रु की तुलना में एक मित्र भी होता है। यदि सिखा सको तो यह भी सिखाओ कि पाए हुए पांच डॉलरों से कमाया हुआ एक डॉलर अधिक मूल्यवान होता है। उसे खोना भी सिखाओ और जीत का मजा लेना भी। अगर हो सके तो उसे ईर्ष्या से दूर रहना भी सिखाओ और शांत हंसी का रहस्य भी सिखाओ। मेरे बेटे को ऐसी शक्ति दो कि वह भीड़ का अनुसरण न करे, चलती गाड़ी के पीछे न लगे। उसे सभी लोगों की बात पर कान देना सिखाओ, पर साथ ही यह भी सिखाओ कि वह जो कुछ सुने, सत्य के कपड़े से छानकर केवल शुभ को ही स्वीकार करे।

अपने विस्तृत पत्र में अन्य अनेक तथ्यों का संकलन करते हुए उसके अंतिम अंश में लिंकन ने लिखा है–उसके साथ आप कोमलता से व्यवहार करें, पर बहुत लाड न दें, क्योंकि अग्निपरीक्षा इस्पात बनाती है। उसे अधीर होने का साहस दो और साहसी होने का धैर्य दो। उसे अपने पर उत्कृष्ट विश्वास करना सिखाओ। तभी वह मानव जाति पर उत्कृष्ट विश्वास कर सकेगा।

असली पाठ्यक्रम घर में

भारत के ख्यातनामा कवि श्री जयशंकर प्रसाद ने विद्यार्थियों के जीवन-निर्माण में अभिभावकों की भूमिका को महत्त्वपूर्ण स्वीकार किया है। उनका चिंतन है- स्कूलों में अक्षरबोध मिलता है, पर संस्कारबोध कहां है? स्कूल में अपने लाडले के सुनहरे भविष्य का सपना देखने वाले सोचें कि क्या वहां उस सपने को आकार दिया जा रहा है? अक्षरबोध के लिए स्कूल ठीक है, पर असली पाठ्यक्रम तो घर में ही पढ़ा जा सकता है। क्या उसके लिए कोई व्यवस्था है? हर अभिभावक के लिए बच्चे के स्कूल से घर लौटने पर उसका होमवर्क और वर्ष के अंत में रिजल्ट महत्त्वपूर्ण होता है। इसलिए उनका पूरा ध्यान इन्हीं दो बिंदुओं पर केंद्रित रहता है।

श्री जयशंकर प्रसाद के अनुसार एक पूरा दिन बच्चे के मनोविज्ञान को समझने में दिया जाए तो अभिभावकत्व का खोखलापन प्रकट हो जाता है। मां को स्कूल भेजने की जल्दी रहती है। इस स्थिति में भविष्य-निर्माण से जुड़े नित्यकर्म उपेक्षित हो जाते हैं। अभिभावक बच्चों के प्रति सहज नहीं रहते। फलतः उच्च शिक्षा तक आते-आते उनके कदम बहक जाते हैं। नई नस्ल के दिग्भ्रमित होने का दोष व्यवस्था, शिक्षापद्धति व वातावरण पर थोपा जाता है, किंतु अभिभावक स्वीकार नहीं करते कि उन्होंने स्वयं अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारी है।

जीवनपोथी से मिलती है शिक्षा

बचपन की अवस्था कच्ची मिट्टी की अवस्था है। कच्ची मिट्टी को मनोनुकूल आकार में ढाला जा सकता है, पर मिट्टी को पकाने के बाद उसे यथेष्ट आकार नहीं दिया जा सकता है। बाल्यावस्था में अध्यापक एवं अभिभावक जिस रूप में बच्चों का निर्माण करना चाहें, उस रूप में वे निर्मित हो सकते हैं। पुस्तकीय ज्ञान से बौद्धिक क्षमता बढ़ती है। विनम्रता, सहनशीलता, ईमानदारी, धैर्य, सामंजस्य आदि गुणों की शिक्षा अध्यापकों-अभिभावकों की जीवनपोथी से प्राप्त होती है। यहां तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि बच्चे न तो पूरे समय अभिभावकों के संरक्षण में रहते हैं और न अध्यापकों के पास रहते हैं। ऐसी स्थिति में वे अपने व्यवहार से उन्हें प्रभावित कैसे कर सकते हैं?

तर्क सही है। प्रस्तुत संदर्भ में इतना ही ज्ञातव्य है कि कुएं से पानी निकालते समय केवल दो अंगुल रस्सी हाथ में रहती है तो भी पूरी रस्सी एवं पानी का डोल बाहर निकाला जा सकता है। पतंग आकाश में उड़ती है, उस समय हाथ में डोर का थोड़ा-सा हिस्सा रहता है। उसी के बल पर वह नभ की ऊंचाइयों को छूती है। इसी प्रकार जितना समय अभिभावकों एवं अध्यापकों की सन्निधि में व्यतीत होता है, उसका समुचित उपयोग किया जाए और अपने आचरणों-व्यवहारों को उदात्त रखा जाए तो बच्चों को सही ढंग से प्रशिक्षित किया जा सकता है। निष्कर्ष के रूप में इतना ही समझा जाए कि केवल किताबी शिक्षा पर्याप्त नहीं है। वास्तविक शिक्षा जीवन से मिलती है। अतः घर एवं स्कूल के वातावरण को स्वस्थ रखा जाए तथा संरक्षकों एवं प्रशिक्षकों के जीवन को समुन्नत बना लिया जाए तो विद्यार्थियों को अलग से उपदेश देने की अपेक्षा नहीं होगी। ❑

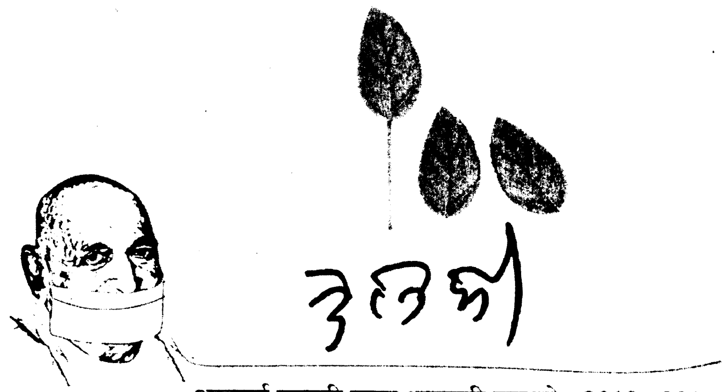

आचार्य तुलसी जन्म शताब्दी समारोह 2013 - 2014

मानवीय आचार-संहिता के प्रस्तोता

साध्वी प्रमुखा : कनकप्रभा

भारत के नागरिक अपनी धार्मिक मनोवृत्ति के लिए प्रसिद्ध हैं। वे सुबह-शाम मंदिरों में जाते हैं, पूजा करते हैं और अपनी मनोकामना पूर्ण करने की प्रार्थना करते हैं। कीर्तन एवं सत्संग का सिलसिला कभी टूटता ही नहीं है। साधु-संन्यासियों के धर्मस्थानों एवं मठों पर भी लोगों की भीड़ लगी रहती है। वृक्षों एवं पाषाणों को देवों का प्रतीक माना जाता है। जिस वृक्ष या पाषाण के सिन्दूर लगा हुआ दिखाई देता, लोग वहां जाकर मनौतियां मनाते हैं। मसजिद में जाकर नमाज पढ़ने का क्रम भी चलता है। गुरुद्वारों में मत्था टेकने की होड़-सी लगी रहती है। चर्च के कक्ष प्रार्थना के समय दर्शनीय हो जाते हैं। उपासना का साम्राज्य चारों ओर विस्तार पा रहा है। किंतु साधना का पक्ष गौण है। पूजापाठ नियमित चलता है, पर आचरण की पवित्रता की ओर ध्यान ही नहीं जाता है। आदमी दिन भर पाप करता है और संध्या के समय मंदिर में जाकर आरती उतार लेता है। ऐसा करके वह स्वयं को पापमुक्त समझ लेता है। ऐसी विसंगतियों से भरी हुई है भारतीय लोगों की जीवनशैली।

सन् 1948, 49 की बात है। भारत आजाद हो गया, पर अंग्रेजियत का प्रभाव क्षीण नहीं हुआ। भारत की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति को भुलाया जा रहा था। राष्ट्रीय आंदोलन के समय देशप्रेम की जो भावना उभरी थी, वह पुनः दबने लगी थी। सामाजिक चेतना का जागरण नहीं हुआ था। कारखानों, बांधों, सड़कों और विद्युतकेंद्रों

को ही देश की गति-प्रगति का मानदंड माना जाता था। देश के बौद्धिक लोग इस प्रकार की परियोजनाओं को मूर्त रूप देने में लगे हुए थे। पर अध्यात्मबल और चरित्रबल को पुष्ट करने वाला कोई कार्यक्रम नहीं था।

राष्ट्रीय चरित्र राष्ट्र की सबसे बड़ी शक्ति है। सेनाबल, संख्याबल और अर्थबल से भी बड़ा बल होता है राष्ट्र का चरित्र। यदि चरित्र उन्नत है तो उन्नति की सारी संभावनाएं वहां निहित हैं। चारित्रिक उच्चता के अभाव में विकास के सारे कार्यक्रम अधूरे रह जाते हैं। चरित्रबल क्षीण होने के बाद मनोबल भी क्षीण हो जाता है। इस सत्य को जानने और समझने के बाद भी चरित्र के क्षेत्र में राष्ट्र को मजबूत बनाने की दृष्टि से कोई अतिरिक्त प्रयत्न नहीं हुआ।

उन दिनों एक पैंतीस वर्षीय युवा सन्त का मानस आंदोलित हुआ। एक धर्मसंघ के आचार्य होने पर भी वे राष्ट्र की समस्याओं के प्रति जागरूक थे। अपने परिपार्श्व के प्रति ही नहीं, वे समग्र वातावरण के प्रति सचेत थे। युग की अपेक्षाओं और संभावनाओं को वे पहचानते थे। उन्होंने तत्कालीन परिस्थितियों के दर्पण में राष्ट्र का भविष्य देखा। राष्ट्र के चेहरे पर उभरने वाली विकृतियों को तराशना जरूरी था। तराशने के बाद भी उसके सौंदर्य की सुरक्षा के लिए उसे मूल्यहीनता की कड़ी धूप और स्वार्थपरता की गर्म लू से बचाना आवश्यक था। इस दृष्टि से उन्होंने अपनी जीवंत सोच को मानवता के हितचिंतन में समर्पित कर दिया। वे युवा संत हैं—आचार्यश्री तुलसी।

आचार्य तुलसी उन दिनों सरदारशहर में प्रवास कर रहे थे। सन् 1949 का वर्ष। 1 मार्च की प्रवचन-सभा में आचार्यश्री ने उपस्थित जनसमूह को संबोधित करते हुए कहा—'उजाले में अंधेरे की तलाश करनेवाले लोग भी इस दुनिया में हैं। राष्ट्र की स्वतंत्रता प्रकाश है, पर नैतिक मूल्यों का पतन अंधेरी खंदक है। मनुष्य आंख मूंदकर इस खंदक में छलांग लगा रहा है। क्या यह उजाले में अंधेरे की तलाश नहीं है? नैतिकता की गिरावट के साथ-साथ भारतीय लोगों में नैतिक मूल्यों के प्रति आस्थाहीनता की जो लहर आई है, वह अधिक घातक है। आदमी के मन में जिस दिन यह भाव उत्पन्न होता है कि नैतिकता के आधार पर जीना संभव नहीं है, उसी दिन से वह अपनी प्राणशक्ति को खोना शुरू कर देता है। नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा से पहले आस्था के निर्माण की जरूरत है। खंडित आस्था व्यक्तित्व को भी खंडित कर देती है। आप लोग अपने व्यक्तित्व को अखंड रखना चाहते हैं, उसे संवारना चाहते हैं तो एक बार आस्थाहीनता का चोगा उतार कर फेंक दें। अपने भीतर इस विश्वास को बद्धमूल करें कि नैतिकता के आधार पर भी जीवन जीया जा सकता है।'

नैतिकता के संदर्भ में अणुव्रत की परिकल्पना को रूपायित करते हुए आचार्यश्री ने कहा—'मानव जीवन की न्यूनतम आचार-संहिता का नाम है—अणुव्रत। शाब्दिक मीमांसा के आधार पर अणु का अर्थ है छोटा और व्रत का अर्थ है नियम। कथ्य की दृष्टि से इसका तात्पर्य है—संकल्पशक्ति का विकास। व्रत का अणु भी व्यक्ति को महान भय से उबार लेता है। अणुव्रत का लक्ष्य है—मनुष्य के जीवन में नैतिक मूल्यों को प्रतिष्ठित कर उसे सही अर्थ में मनुष्य बनाना। इसी लक्ष्य को व्यापक परिवेश से जोड़ने पर इसका स्वरूप बनता है—शोषणविहीन और स्वतंत्र समाज की संरचना। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु व्यक्ति-व्यक्ति को समझाना होगा। विचार-परिवर्तन या हृदय-परिवर्तन के लिए यह एक प्रशस्त उपक्रम है। इसके लिए मुझे ऐसे कार्यकर्ताओं की जरूरत है जो स्वयं अणुव्रती बनकर जन-जन में व्रत की चेतना का संचार कर सकें। इस योजना की क्रियान्विति के लिए प्रथम बार में मुझे पचीस व्यक्ति उपलब्ध हो जाएं तो मैं अपनी योजना को विस्तार दे सकता हूं।'

आचार्यश्री का क्रांतिकारी आह्वान अनेक लोगों को भीतर तक छू गया। उनमें नई आस्था और नए संकल्प ने जन्म लिया। वे अणुव्रत के आदर्शों को आत्मसात करने के लिए उतावले हो उठे। आचार्यश्री का संकेत पाकर

वे खड़े हुए और उनकी मांग को क्रॉस करते हुए तिगुनी संख्या में खड़े हो गए। प्रथम पारी में इकहत्तर व्यक्तियों की टीम देखकर आचार्यश्री भी उत्साहित हुए। उन्होंने अपने कार्यक्रमों में अणुव्रत को शीर्ष स्थान पर अंकित कर लिया।

अणुव्रत का मानव धर्म के रूप में विकसित करना आचार्यश्री को अभीष्ट था। इस दृष्टि से उन्होंने अणुव्रत के निर्देशक तत्त्वों का निर्धारण किया। एक-एक कर उन तत्त्वों की संख्या तेरह हो गई। अणुव्रती बनने से पहले उनको समझना भी आवश्यक है। वे निर्देशक तत्त्व ये हैं–

- मानवीय एकता का विकास।
- सह अस्तित्व की भावना का विकास।
- व्यवहार में प्रामाणिकता का विकास।
- आत्मनिरीक्षण की पद्धति का विकास।
- समाज में सही मानदंडों का विकास।
- साधन शुद्धि की आस्था का विकास।
- संयम और संकल्प शक्ति का विकास।
- सांप्रदायिक सद्भाव का विकास।
- आंतरिक पवित्रता का विकास।
- अभय, तटस्थता और सत्यनिष्ठा का विकास।
- अमूर्च्छा या अनासक्ति का विकास।
- व्यक्तिगत संग्रह और भोगोपभोग की सीमा का विकास।
- चेतना के रूपांतरण और भावात्मक परिस्थिति की प्रक्रिया का विकास।

अणुव्रत आंदोलन ने देश के कितने प्रतिशत लोगों को सुधार किया, यह लेखा-जोखा आचार्यश्री के पास नहीं है। फिर भी यह निश्चित है कि अणुव्रत के द्वारा हिंसा एवं आक्रामक नीति के विरोध में जनमत जाग्रत करने का अच्छा प्रयास हुआ है। हजारों-हजारों विद्यार्थियों ने अपनी तोड़-फोड़ मूलक वृत्तियों को रचनात्मक मोड़ देने में सफलता प्राप्त की है। अणुव्रत परीक्षाओं के द्वारा उनकी ज्ञात चेतना के जागरण तथा चारित्रिक आस्था को मजबूत बनाने की दृष्टि से ठोस काम हुआ है, हो रहा है। इस ज्ञान और आस्था को अंत तक कितने व्यक्ति सुरक्षित रखते हैं, यह शोध का विषय है। किंतु इतना तो निश्चित है कि प्रारंभ में प्राप्त संस्कारों का प्रभाव किसी-न-किसी बिंदु पर जीवन को मोड़ दे सकता है।

मानवीय एकता की भावना अणुव्रत का मूल आधार है। इसके द्वारा जातिवाद, रंगवाद आदि विषमतामूलक व्यवस्थाओं की जड़ें हिला दी गईं। अस्पृश्यता की मनोवृत्ति पर प्रहार किया गया। प्रसंग आने पर साधु-साध्वियों ने हरिजनों के घरों में प्रवास किया। अनुसूचित जाति के लोगों के संस्कार-शिविरों का आयोजन किया गया और स्वयं आचार्यश्री ने ऐसे लोगों के हाथों से भिक्षा ग्रहण कर जातिवाद की अतात्त्विकता को प्रमाणित कर दिया।

एक युग था, जब धार्मिक कट्टरता का बोलबाला था। अपने संप्रदाय को सही और अन्य सबको गलत माना जाता था। आचार्यश्री ने अणुव्रत के धरातल पर धर्म समन्वय की नीति का निर्धारण किया। कट्टरता की पकड़ ढीली हुई। आज अनेक धर्मों के प्रतिनिधि एक मंच पर बैठकर सार्वभौम धर्म की चर्चा करने लगे हैं।

मनुष्य के भीतर अनैतिक चेतना के प्रवेश हेतु एक बड़ा द्वार है–व्यापार। व्यावसायिक बुद्धि और अर्थ को ही सब कुछ मानने की मनोवृत्ति ने समाज में एक शोषक वर्ग खड़ा कर दिया। धोखाधड़ी, कालाबाजारी, तस्करी आदि ऐसी खिड़कियां खोल दी गई हैं, जिनसे आदमी आसानी से आ-जा सकता है। अणुव्रती बनने वाले लोगों ने इन सब रास्तों को

बंद कर रखा है। ऐसे लोग संख्या में कम भले ही हों, पर इनके पास जो नैतिक बल है, उसके द्वारा वे कठिन-से-कठिन परिस्थिति को पार कर आगे बढ़ जाते हैं।

दहेज, मृत्युभोज, बाल विवाह, वृद्ध विवाह, पर्दा प्रथा आदि सामाजिक कुरूढ़ियों का दंश वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन की पूरी तरह से विषाक्त बना देता है। आचार्यश्री ने इस विषमता का अनुभव किया और अणुव्रत के द्वारा सामाजिक कुरूढ़ियों की रीढ़ तोड़ देने का अभियान चलाया। नया मोड़ का उनका कार्यक्रम विशेष रूप से रूढ़ियों के बहिष्कार हेतु उठाया गया कदम था।

आचार्यश्री के इस क्रांतिकारी अभियान का एक ओर मुक्तभाव से स्वागत हुआ तो दूसरी ओर खुलकर विरोध भी हुआ। सामाजिक परंपराओं में हस्तक्षेप का आरोप लगाया गया। इस विरोध का स्वर उनके अनुयायियों के बीच से भी उठा। इसका आचार्यश्री को पहले से ही आभास था। इसलिए विरोध की तीव्रता भी उन्हें अपने लक्ष्य से विचलित नहीं कर सकी। आचार्यश्री का स्वभाव था कि वे चिंतनपूर्वक किसी काम को हाथ में ले लेते तो हजार कठिनाइयों के उपस्थित होने पर भी उसे छोड़ते नहीं थे। अपनी इसी वृत्ति के कारण वे नए-नए स्वप्न देखते हैं, उन्हें पूरा करने की योजना बनाते हैं और उसकी क्रियान्विति कर लेते हैं।

अणुयुग की विभीषिका में आचार्यश्री ने अणुव्रत का ऐसा विकल्प प्रस्तुत किया, जो लोकजीवन के लिए सफल आश्वासन बन रहा है। स्टारवार की तेज अफवाहों के बीच आचार्यश्री ने निःशस्त्रीकरण का पथ दर्शन दिया। अहिंसा सार्वभौम की उनकी परियोजना का मूलभूत लक्ष्य यही था। इस योजना की क्रियान्विति के लिए अहिंसा के क्षेत्र में शोध, प्रयोग और प्रशिक्षण, इस प्रस्थानत्रयी को आधार बनाना अपेक्षित है।

कुछ लोगों की दृष्टि में मादक व नशीले पदार्थों का सेवन सभ्यता का अंग बनता जा रहा है। परिणाम की चिंता किए बिना विकसित होने वाली यह प्रवृत्ति शारीरिक और मानसिक रूप में कितनी घातक है, किसी से अज्ञात नहीं है। धूम्रपान, मद्यपान और अनेक प्रकार की ड्रग्स का उपयोग करने वाली युवापीढ़ी मानसिक दृष्टि से कितनी विकृत हो जाती है, इस तथ्य को कोई स्वीकार करे या नहीं, पर इसका दुष्प्रभाव किसी एक पीढ़ी को नहीं, पूरे युग को प्रभावित किए बिना नहीं रहता। आचार्यश्री ने इसकी ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया और हजारों व्यक्तियों को व्यसन-मुक्त बनाकर मानसिक, शारीरिक एवं आर्थिक स्वास्थ्य का पथ प्रशस्त कर दिया।

वस्तु और विचारों की भांति सभ्यता और संस्कृति का भी आयात-निर्यात होता है, पर संस्कृति व्यक्ति के जीवन से निकलकर विदेश में निर्यातित हो जाए तो उससे कभी नहीं भरने वाला खालीपन आ जाता है। इस खालीपन को न तो बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएं भर सकती हैं और न ही विलासिता के आधुनिक साधन। भारतीय दर्शन का आदर्श त्याग और संयमप्रधान जीवनशैली है। अणुव्रत इसी जीवनशैली को विकसित करना चाहता है। आचार्यश्री का यह बहुत बड़ा सपना है। इस स्वप्न को पूरा करने के लिए उन सब लोगों को प्रयत्न करना है, जिनकी आध्यात्मिक या नैतिक मूल्यों में थोड़ी भी आस्था है। गांधीजी के सपनों का भारत भी कुछ-कुछ ऐसा ही था। गांधीजी का आचार्यश्री के साथ साक्षात मिलना नहीं हो सका था, पर देश के चरमराते हुए सांस्कृतिक एवं नैतिक मूल्यों की चिंता दोनों ही महापुरुषों को थी। गांधीजी अब हमारे बीच में नहीं हैं, किंतु आचार्यश्री के विचारों में गांधीजी का प्रतिबिंब देखा जा सकता है। इस प्रतिबिंब को जन-जन में बिंबित किया जा सका तो वह इस युग की मानवजाति को आचार्यश्री का महानतम अवदान सिद्ध होगा। ❑

शिक्षा विकास : संघ विकास

साध्वी जिनप्रभा

विकास की यात्रा मनुष्य की मौलिक मनोवृत्ति रही है। जो व्यक्ति कुछ होना चाहता है, कुछ करना चाहता है उसका चिंतन, उसकी गति विकास की दिशा में प्रस्थित होती है। विकास यात्रा के तीन बिंदु हैं–कल्पनाजीवी होना, स्वप्नदर्शी होना और ग्रहणशील होना। जिस व्यक्ति में ये तीनों बातें होती हैं वह विकास की दिशा में नित-नये आयाम उद्घाटित करता है। तीनों बिंदु आचार्यश्री तुलसी की विकास यात्रा में प्रतिस्पर्धा करते से प्रतीत होते थे।

नित-नयी कल्पना, नित-नये स्वप्न संजोना उनकी नियति थी। इसके साथ उनमें ग्रहणशीलता अद्भुत थी। उन्हें नवीनता से व्यामोह नहीं था, पर जहां कहीं अच्छाई के तत्त्व दिखाई देते उनकी ग्राहक मनीषा अविलंब उन्हें ग्रहण कर लेती। उम्र के नौवें दशक में पहुंच कर भी उनकी ग्रहणशीलता में कहीं ठहराव नहीं आया। बल्कि समय के साथ उसके प्रवाह की धारा और अधिक तीव्रता से प्रवाहित होती दिखाई दी।

शैक्षणिक विकास की पृष्ठभूमि

आचार्यश्री तुलसी की विकास यात्रा को बिंदु-वार विचार के रूप में भी यदि प्रस्तुति दी जाए तो अनगिनत पृष्ठ भरे जा सकते हैं। प्रस्तुत निबंध में उनकी विकास यात्रा के मात्र एक बिंदु को स्पर्श करना ही अभीष्ट है और, वह है–धर्मसंघ को शिक्षा की दृष्टि से आगे बढ़ाने का उपक्रम। आचार्यश्री के युवा कंधों पर जब तेरापंथ धर्मसंघ का दायित्व आया तब धर्मसंघ में शिक्षा का विकास बहुत अधिक नहीं था। साध्वी समाज में तो शिक्षा की धारा नगण्य-सी थी। इसका कारण था तत्कालीन सामाजिक परिवेश। उस समय नारी शिक्षा नहीं के बराबर थी। 'एक घर में दो कलमें नहीं चलतीं, यह धारणा बद्धमूल-सी थी। उन्हीं परिवारों से दीक्षित होने वाली साध्वियों में शिक्षा कहां से आती। आचार्यश्री तुलसी ने अनुभव किया कि युग करवट ले रहा है। युग के प्रवाह के साथ साध्वियों में शिक्षा का विकास नहीं हुआ तो हम युग का साथ नहीं निभा पाएंगे। उन्होंने दायित्व-बोध के साथ ही पहला काम–साध्वी समाज को शिक्षित करने का शुरू किया। शिक्षित करने से पूर्व साध्वियों में शिक्षा के प्रति अभिरुचि जगाने की अपेक्षा थी। साध्वियों में भी यह धारणा बल पकड़े हुए थी कि पढ़ाई करना तो संतों का काम है। हमारा काम तो सिलाई-रंगाई आदि करना है। इसका साक्ष्य इतिहास का वह पृष्ठ है जिसमें महासती दीपांजी ने पात्र रंगाई के संदर्भ में मुनि जीत को कहा था।

आचार्यश्री तुलसी को प्रारंभ में शिक्षा के प्रति साध्वियों की मानसिकता बनाने के लिए भी बहुत श्रम करना पड़ा। उस समय न कोई साधन सामग्री थी, न कोई शिक्षक थे। गुरुदेव ने अध्यापन का कार्य स्वयं हाथों में लिया। उन्होंने अनुभव किया–शक्ति की पूजा होती है। संघ को अगर विकास की दिशा में अग्रसर करना है तो उसे शक्ति संपन्न बनाना आवश्यक है। शक्ति संपन्न बनाने के लिए अध्यात्म विकास के साथ शैक्षणिक विकास करना अनिवार्य है।

उस समय तक विहार क्षेत्र इतना व्यापक नहीं था। विहार क्षेत्र को व्यापक बनाने से पूर्व गुरुदेव ने सक्रियता व निष्ठा के साथ स्वयं को और अपने समूचे धर्मसंघ को शिक्षा के यज्ञ में झोंक दिया। ग्यारह वर्ष का वह समय संघ के विकास/अभ्युदय का स्वर्णिम काल कहा जा सकता है। उस समय तक आगम, न्याय, दर्शन, काव्य, साहित्य आदि विभिन्न दिशाओं में विकास की धाराएं बहीं।

व्यवस्थित पाठ्यक्रम

गुरुदेव ने शिक्षाक्रम को विधिवत आगे बढ़ाने के लिए एक व्यवस्थित पाठ्यक्रम की अपेक्षा अनुभव की। चाह को राह स्वयं मिलती है। वि. सं. 2002, आश्विन मास का समय। गुरुदेव एक पत्रिका देख रहे थे। उसमें रूस के नवनिर्मित पाठ्यक्रम की जानकारी दी हुई थी। गुरुदेव की ग्रहणशीलता ने उसे पकड़ा। तत्काल आपके मन में विचार आया–अपने यहां भी एक शिक्षाक्रम होना चाहिये। गुरुदेव के जीवन की एक विलक्षणता थी कि उनके चिंतन, निर्णय और क्रियान्विति के बीच विलंब नहीं होता था। रघुवंशी राजाओं के गुण जैसे परस्पर अनुबंधित होते थे वैसे ही गुरुदेव के चिंतन के साथ निर्णय और क्रियान्विति का अनूठा योग था। आपने तत्काल अपने मेधावी शिष्य मुनि नथमल (आचार्य महाप्रज्ञ) को बुलाया और उनके सामने अपना चिंतन रखा। पाठ्यक्रम तैयार करने का निर्देश दिया। गुरु और शिष्य की वह एक विलक्षण जोड़ी थी। गुरुदेव नित-नये स्वप्न देखते और महाप्रज्ञ उन्हें पूरा करने के लिए स्वयं को समर्पित कर देते। मुनि नथमलजी की सन्निधि में कुछ साधु और कुछ श्रावक बैठे। पंडित रघुनंदनजी शर्मा भी उनके साथ थे। एक पाठ्यक्रम तैयार हो गया। उस पाठ्यक्रम का नाम रखा गया–आध्यात्मिक शिक्षाक्रम। वह पाठ्यक्रम संघीय शिक्षा विकास की नींव बना।

'आध्यात्मिक शिक्षाक्रम' नामक नवीन पाठ्यक्रम योग्य, योग्यतर व योग्यतम के रूप में निर्धारित किया गया। योग्य के तीन वर्ष, योग्यतर के दो वर्ष और योग्यतम के दो वर्ष–इस प्रकार सात वर्ष का पाठ्यक्रम स्नातकोत्तर (एम.ए.) के समकक्ष था। सातवें वर्ष की परीक्षा में विद्यार्थियों से एक लघु शोध-प्रबंध तैयार करवाने का प्रावधान था। उन परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने के बाद थीसिस/पीएच.डी. की दृष्टि से 'कल्प' नाम से एक विशेष क्रम निर्धारित किया गया।

इस पाठ्यक्रम के अतिरिक्त एक पाठ्यक्रम और बना जो 'सैद्धांतिक शिक्षाक्रम' के नाम से प्रचलित हुआ। इस पाठ्यक्रम का उद्देश्य था–जो साधु-साध्वियां संस्कृत, प्राकृत पढ़ने की क्षमता न रखते हों वे भी शिक्षा से वंचित न रहें।

पाठ्यक्रम का निर्धारण होते ही विद्यार्थी साधु-साध्वियों के नाम लिए गए। पहली बार में ही उत्साहवर्धक नाम आए। प्रथम परीक्षा जयपुर में हुई। लगभग तीस-पैंतीस साधु-साध्वियों ने उसमें भाग लिया। परीक्षा का परिणाम संतोषजनक रहा। इसके बाद इस पाठ्यक्रम को प्रभावी ढंग से लागू कर दिया गया। साधु-साध्वियों के लिए इस पाठ्यक्रम में जुड़ने का आकर्षण शिक्षा के क्षेत्र में गति करना तो था ही, पर उसके समानांतर या उससे भी बड़ा आकर्षण था–गुरुदेव के पास अध्ययन करना एवं उनके द्वारा प्राप्त प्रेरणा/प्रोत्साहन से लाभांवित होना। यह एक बहुत बड़ी बात थी कि गुरुदेव अपनी व्यस्तता में भी विद्यार्थी, साधु-साध्वियों को स्वयं अध्यापन कराते। वि.सं. 2005 के बाद यात्राओं का बहुत विस्तार हुआ। लंबी यात्राएं, मार्गगत कठिनाइयां, साधु-चर्या की अपनी सीमाएं, फिर भी विद्यार्थी साधु-साध्वियों का उत्साह मंद नहीं पड़ा। यात्राओं में भी परीक्षा का क्रम बराबर चालू रहा।

यह पाठ्यक्रम गहन गंभीर और स्तरीय था। उस पाठ्यक्रम से गुजरने वाले कई साधु-साध्वी आधुनिक विषयों/विद्याओं के ज्ञाता बने। कई ने न्याय दर्शन आदि विषयों में अच्छी योग्यता अर्जित की। अनेक साधु-साध्वियां धारा प्रवाह संस्कृत-प्राकृत में बोलने, आशु कविताएं करने, श्लोक रचना करने में निष्णात बने। इस पाठ्यक्रम की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है साध्वी-प्रमुखाश्री कनकप्रभाजी और उनके आगे-पीछे एवं

साथ में अध्ययन करने वाले सैकड़ों साधु-साध्वियां। लगभग तीन दशकों से भी अधिक समय तक प्रभावी बने रहे उस पाठ्यक्रम से सैकड़ों साधु-साध्वियों ने शिक्षा प्राप्त की।

तीन दशक के बाद पाठ्यक्रम को हलका कर दिया गया। उसे हलका बनाने के कारण संघीय प्रवृत्तियों की बहुलता एवं यात्रापथ का विस्तार तो बने ही, वर्तमान की अध्ययन पद्धति भी निमित्त बनी। आज के विद्यार्थी श्रम करना नहीं चाहते। कंठस्थ पद्धति का तो जैसे लोप ही हो गया है। स्कूलों, कॉलेजों का अध्ययन आज बहुत हलका-फुलका है। आज की यूनिवर्सिटी से संस्कृत में एम.ए. पास किए विद्यार्थी चार वाक्य संस्कृत में बोलना तो दूर, शुद्ध हिन्दी में लिखने में भी कठिनाई का अनुभव कर रहे हैं। उसी अध्ययन से आने वाले साधु-साध्वी भी उस प्रभाव से वंचित नहीं थे।

यही कारण था कि समय-समय पर संघीय पाठ्यक्रम का स्तर भी हलका होता गया। आज के पाठ्यक्रम से गुजरने वाले व्यक्ति अध्ययन-क्रम को पूरा करने के बावजूद भी किसी विषय के अधिकृत विद्वान नहीं बन रहे हैं, यह एक चिंता का विषय है।

वर्तमान के शिक्षा के स्तर को देखते हुए आचार्य महाप्रज्ञ चिंतित हैं। वे चाहते हैं कि हमारा पुराना पाठ्यक्रम पुनः प्रभावी बनाया जाए।

प्रस्तुत निबंध को लिखते समय मैंने सोचा–उस पुराने समग्र सप्तवर्षीय पाठ्यक्रम को निबंध का विषय बनाया जाए, पर निबंध विस्तार के भय से पूरा सात वर्षों का पाठ्यक्रम तो नहीं, पर अंतिम दो वर्षों का पाठ्यक्रम नमूने के रूप में प्रस्तुत कर रही हूं। वह पाठ्यक्रम अध्ययन की गंभीरता को स्वतःप्रस्तुति देने वाला होगा।

योग्यतम (प्रथम वर्ष)

1. संस्कृत व्याकरण	भिक्षुशब्दानुशासन
2. प्राकृत व्याकरण	तुलसी मंजरी
3. आगम	आयारो
4. दर्शन	स्याद्वाद्मंजरी, प्रमाण मीमांसा, प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध, नव पदार्थ, भिक्षुस्मृतिग्रंथ
5. संस्कृत साहित्य	अभिज्ञानशाकुन्तलम्, शांतसुधारसभावना, अश्रुवीणा
6. हिंदी साहित्य	रश्मिरथि
7. हिंदी निबंध, संस्कृत निबंध	
8. सामान्यज्ञान	

योग्यतम (द्वितीय वर्ष)

1. व्याकरण	लिंगानुशासन, न्यायदर्पण
2. संस्कृत साहित्य	शिशुपालवध महाकाव्य, किरातार्जुनीय, भरतबाहुबलि महाकाव्य
3. आगम	सूयगडो
4. दर्शन	भ्रमविध्वंसन, अहिंसा तत्त्व दर्शन, प्रमाणनय तत्त्वावलोकालंकार, योगशतक शास्त्रवार्तासमुच्चय
5. इतिहास	श्रमण भगवान, महावीर
6. हिंदी साहित्य	प्राकृत निबंध, संस्कृत निबंध
7. प्राकृत साहित्य	समराइच्चकहा
8. सामान्यज्ञान	संस्कृत श्लोक रचना

शिक्षण-प्रशिक्षण, पाठ्यक्रम, परीक्षण की प्रक्रिया से गुजरते हुए अनेक विद्वान साधु-साध्वियों का बौद्धिक व्यक्तित्व निर्मित हुआ है। आज तो जैन विश्वभारती, मान्य विश्वविद्यालय की उच्चस्तरीय अध्ययन शैली सहज प्राप्त है। मगर उस वक्त संसाधनों की अल्पता में भी गुरुदेव की जीवंत अभीप्सा ने संघ में ज्ञानाराधना के द्वार खोल दिए। यह धर्मसंघ चिरऋणी रहेगा ज्ञानचक्षु प्रदाता आचार्यश्री तुलसी का। ❐

शिक्षा की विकास-यात्रा साध्वी समाज में

साध्वी कनकश्री

जीवन वही कहलाता है जो विकास-पथ का यात्री हो। हमारी चेतना यदि विकास की दिशा में प्रस्थित न हो, जीवन फैलता हुआ, उठता हुआ प्रतीत न हो तो न वह चेतना चेतना है और न वह जीवन जीवन है। विकास की गंगा में बहता हुआ जीवन ही आनंद, शक्ति और संतुष्टि का पर्याय बन सकता है। किसी भी व्यक्ति, समाज या संस्थान की जीवंतता का प्रतीक विकास ही है।

तेरापंथ धर्मसंघ एक प्राणवान धर्मसंघ है, क्योंकि वह प्रगतिशील है। इसकी प्रगति की धारा सतत प्रवहमान रही है। एक आध्यात्मिक संगठन के लिए विकास का आधारभूत तत्त्व है—चैतन्य का जागरण और उसके आयाम हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप। सम्यकदर्शन की सुदृढ़ नींव पर प्रतिष्ठित तेरापंथ संघ का चारित्रिक पक्ष प्रखर तप साधना की आंच में तप कर दिनोदिन अधिक निखार पा रहा था, पर प्रारंभ में ज्ञानाराधना का क्रम आगमिक अध्ययन तक ही सीमित था। वह भी टब्बों और जोड़ों के माध्यम से ही चलता था। संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं के अध्ययन का क्रम नहीं के बराबर था, साध्वियों के विकास का कोई क्रम चालू नहीं था, आगमों का कंठीकरण, जैन तत्त्व के रहस्यों का अधिगम तथा प्रवचन-कौशल प्राप्त कर लेना ही उनके लिए पर्याप्त माना जाता था।

प्रज्ञापुरुष श्रीमज्जयाचार्य ने संघ के प्रांगण में शिक्षा का बीजवपन किया वह फला-फूला। संघ का बगीचा महका। पंचमाचार्यश्री मघवा ने उसे और विस्तार दिया। पूज्य कालूगणी के युग में संघ की कई संत-प्रतिभाएं शिक्षा के क्षेत्र में प्रखरता के साथ उभरने लगीं। संस्कृत-साहित्य, न्याय-दर्शन तथा संस्कृत-व्याकरण के अध्ययन-अध्यापन के नये स्रोत प्रवाहित होने लगे। यहां तक भी साध्वियों के शैक्षिक विकास पर ध्यान नहीं दिया गया। इसका मतलब यह नहीं था कि उस समय की साध्वियों में शैक्षिक क्षमता या प्रतिभा का अभाव था। लगता है उनकी प्रतिभा के प्रस्फुटन के लिए काल लब्धि का परिपाक नहीं हुआ था। वैसे नैसर्गिक प्रतिभा संपन्न साध्वियों की कमी उस समय भी नहीं थी। इसका जीवंत उदाहरण है—महासती गुलाब।

श्वेतवसना सरस्वती

आचार्यश्री मघवा का वि. सं. 1942 का पावन-प्रवास जोधपुर था। उस समय जयपुर, जोधपुर, उदयपुर, बीकानेर आदि राज्यों के सम्मानित संत गणेशपुरीजी मघवागणी से मिले। धर्मचर्चा कर प्रभावित हुए। मघवागणी की प्रेरणा पाकर वे साध्वियों के दर्शनार्थ उनके प्रवासस्थल पर गये। साध्वीप्रमुखा गुलाबसती की गुलाब-सी आकृति, ब्रह्मचर्य का तेज, पीयूषभरी वाणी, कंठमाधुरी और संस्कृत पद्यों का समुच्चारण आदि

को देख-सुनकर वे मंत्रमुग्ध हो गए। पुनः मघवागणी की उपासना में आये, निवेदन किया–'आज मैंने एक दिव्य देवी के दर्शन किये हैं। मुझे अनेक अंतःपुरों में जाने का मौका मिला है, पर ऐसी रूपवती और विदुषी बहिन मैंने आज तक नहीं देखी।' गणेशपुरीजी इतने विश्वस्त संत थे कि वे उक्त राज्यों के अंतःपुर में चाहे जब बेरोक-टोक प्रवेश पा सकते थे। उन्होंने आगे कहा–'महासतीजी की उलटे पन्ने बांचने की कला, संगीत और संस्कृत विद्या को देखने से लगता है, वे कोई श्वेत-वसना साक्षात सरस्वती ही हैं।'

श्रीमज्जयाचार्य ने जब 'भगवती की जोड़' जैसे विशाल ग्रंथ की रचना प्रारंभ की तब अपनी आशुलिपि की विशिष्ट क्षमता का परिचय देते हुए उसे लिखने का दुरूह कार्य महासाध्वी गुलाब ने ही किया था। इसी से उनकी चमत्कारी प्रतिभा का अनुमान लगाया जा सकता है, पर ऋतुराज वसंत के स्वागत हेतु एक कोयल का कूजन पर्याप्त नहीं होता। किसी एक का विकास या प्रगति यात्रा सर्व के विकास का प्रमाण-पत्र नहीं बनता।

साध्वी शिक्षा की पृष्ठभूमि

'विकासे विन्यस्ता विमल-विपुला दृष्टिरनिशम्' आचार्यश्री तुलसी की विशद/विशाल दृष्टि सदा विकास पर टिकी रहती थी। रूढ़ता और यांत्रिकता का जीवन उन्हें कभी पसंद नहीं था। आचार्य बनने से पूर्व भी वे संघीय विकास की चिंता किया करते थे। वि. सं. 1992, उदयपुर चातुर्मास में उन्होंने पूज्यपाद कालूगणी के चरणों में विनम्र निवेदन किया–'गुरुदेव! साध्वियों की संख्या बढ़ती जा रही है और इनकी शिक्षा के लिए कोई व्यवस्था नहीं है। ऐसे कैसे काम चलेगा?' पूज्य गुरुदेव ने इस निवेदन को गंभीरता से लिया।

वि.सं. 1993 में जब उन्होंने अपना उत्तराधिकार मुनि तुलसी को सौंपा, तब एक निर्देश प्रदान किया था कि 'तुलसी! साध्वियों की शिक्षा के संबंध में विशेष कुछ नहीं हो पाया है। तुम्हें इस दिशा में ध्यान देना है, काम करना है।' मुनि तुलसी अब युवाचार्य तुलसी बन गये थे। उन्होंने गुरुदेव के उस निर्देश को शिरोधार्य करते हुए मार्गदर्शन चाहा–'दीक्षार्थिनी बहिनों की संख्या अधिक है और अब तक कोई अभ्यासक्रम निश्चित नहीं है। अशिक्षित बहिनों को दीक्षित कर संख्या बढ़ाते रहना कैसे ठीक रहेगा?' पूज्य कालूगणी ने इस प्रश्न को समाहित करते हुए कहा–'इस में चिंता की क्या बात है, तू उचित समझे तो दीक्षित करना अन्यथा स्पष्ट रूप से इनकार कर देना'। गुरु के द्वारा रोपा गया यह एक ऐसा प्रकाशस्तंभ था, जो साध्वी-शिक्षा के यात्रा-पथ को युगों-युगों तक आलोकित करता रहेगा। यही वह मंत्र वाक्य था जो आचार्यश्री तुलसी के मानस में उद्भूत साध्वी समाज के शैक्षिक-विकास की पकिल्पना का सुदृढ़ आधार बन गया।

निर्माण साध्वी संघ का

आचार्य पद पर आसीन होते ही आचार्यप्रवर ने सर्वप्रथम साध्वियों को पढ़ाने के लिए बुलाया। संकोच और कुतूहल के साथ सर्वप्रथम सात-आठ साध्वियां पढ़ने के लिए प्रस्तुत हुई। आचार्यप्रवर ने अध्यापन कार्य स्वयं अपने हाथ में लिया। उच्चारणशुद्धि, संस्कृत ग्रंथों का कंठीकरण और अर्थबोध से साध्वियों की शिक्षा-यात्रा का श्री जिनेश हुआ। यह पूज्य कालूगणी के प्रति उनकी पहली श्रद्धांजलि थी।

इधर कुछ वर्षों तक स्थिति का आकलन करने के पश्चात् आपने समाज के वरिष्ठ लोगों के सामने अपना चिंतन प्रस्तुत करते हुए कहा–'अब शिक्षा और साधना के व्यवस्थित अभ्यास के बिना दीक्षार्थिनी बहिनों को दीक्षित करने का विचार कम है।' इस चिंतन की समाज में तीव्र प्रतिक्रिया हुई। फिर भी समाज के चिंतनशील, प्रबुद्ध श्रावकों ने इस संबंध में गंभीरता से सोचा। दीक्षार्थिनी बहिनों की शिक्षा-साधना की व्यवस्था हेतु एक संस्था की परिकल्पना की गई। फलस्वरूप पारमार्थिक शिक्षण संस्था का उदय हुआ। इसके माध्यम से वर्षों तक साधना की आंच में तप कर तथा शिक्षाभ्यास से निखर कर आने वाली साध्वी प्रतिभाएं संघ को सहज उपलब्ध होने लगीं। इधर साध्वियों के निर्माण में आचार्यप्रवर का अथक श्रम चल रहा था। साध्वियां नियमित रूप से गुरुवर की सन्निधि में अध्ययनरत थी।

व्याकरण में कालू कौमुदी से लेकर श्रीभिक्षु शब्दानुशासनम्, लिंगानुशासनम् न्याय दर्पण आदि दर्शनशास्त्र में षड्दर्शनसमुच्चय, स्याद्वाद् मंजरी, प्रमाणनय तत्त्वावलोकालंकार आदि, काव्यग्रंथों में भरत बाहुबली महाकाव्यम्, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम्, मेघदूत, शिशुपालबध अभिज्ञानशाकुन्तलम् तथा जैनागमों की संस्कृत टीकाओं के अध्ययन के माध्यम से आप विद्यार्थियों के सर्वांगीण विकास का प्रयास करते।

सैकड़ों साधु-साध्वियों, लाखों श्रावक-श्राविकाओं तथा समूची मानवता के योगक्षेम का दायित्व वहन करने वाले एक महान धर्मगुरु द्वारा छोटे-छोटे विद्यार्थियों, उनमें भी साध्वियों के अध्यापन में अपना इतना श्रम और समय नियोजित करना असामान्य घटना थी।

आचार्य प्रवर के अनुशासन, वात्सल्य और जागरूक परिश्रम के मध्य कितनी साध्वियों के जीवन की कच्ची माटी अपने सांचे में आकार लेने लगी। इस सांचे में ढलकर जो प्रतिमाएं बाहर आईं, उनमें गुरुवर के अमिताभ व्यक्तित्व और निर्माण-कौशल की स्पष्ट झलक मिलती है।

सप्तवर्षीय पाठ्यक्रम के अध्ययन-अध्यापन से गुजरने के बाद साध्वियों के शैक्षिक धरातल में काफी ठोसता आई है, ऐसा स्वयं गुरुदेव भी अनुभव करते थे। गुरुकुलवास में रहने वाली साध्वियां उस शिक्षा-पद्धति से लाभांवित हो रही थी, पर गुरुदेव अधिकाधिक साध्वियों को उस दिशा में प्रस्थित करना चाहते थे। इस दृष्टि से बहिर्विहारी साध्वियों के लिए भी शिक्षण केंद्रों की विशेष व्यवस्था की गई। समय-समय पर अनेक प्रबुद्ध साध्वियों ने उन शिक्षा-केंद्रों के संचालन और प्रशिक्षण का दायित्व कुशलता के साथ निभाया। साध्वियों की गति-प्रगति पूज्यप्रवर को अतिरिक्त आत्मतोष देती थी। सन् 1963 लाडनूं चातुर्मास में अपने कार्यक्रमों का सिंहावलोकन करते हुए उन्होंने कहा–'मेरे सामने सबसे पहला काम साध्वियों के प्रशिक्षण का था। उसकी समुचित व्यवस्था कर दी गई। इस वर्ष सरदारशहर में साध्वियों का शिक्षण केंद्र सुव्यवस्थित चल रहा है, इसकी मुझे प्रसन्नता है।'

वर्तमान में संघीय पाठ्यक्रम के स्थान पर ब्राह्मी विद्यापीठ महाविद्यालय में स्नातक स्तर का तथा जैन विश्व भारती संस्थान मान्य विश्वविद्यालय में स्नातकोत्तर स्तर का अध्ययन क्रम चल रहा है। उसमें मुमुक्षु भाई-बहनों, समण-समणियों के सिवाय अनेक साध्वियां भी उच्च शिक्षा प्राप्त कर रही हैं। अनेक साध्वियां पीएच.डी. भी कर रही हैं।

शोध की दिशा में–गुरुदेव का चिंतन रहता कि जनता की आध्यात्मिक चेतना का जागरण हमारा दायित्व है। यह कार्य शक्ति के बिना संभव नहीं है। गंभीर अध्ययन के बिना शक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिए अपेक्षा है वैज्ञानिक दृष्टि से साधु-साध्वियों में गंभीर अध्ययन तथा वैज्ञानिक दृष्टि से शोध करने की मनोवृत्ति का विकास हो' इस चिंतन की क्रियान्विति के रूप में जैन विद्या और दर्शन परिषदों का आयोजन हुआ। मनीषी विद्वानों के सिवाय साधु-साध्वियों ने भी उन परिषदों में अपने विद्वत्तापूर्ण शोध-प्रबंध प्रस्तुत किये। विद्वानों में अच्छी प्रतिक्रिया रही। इस संदर्भ में आपने कहा 'मेरी एक महत्त्वपूर्ण परिकल्पना थी साहित्य के क्षेत्र में आगे बढ़ना। साहित्य शोध की प्रवृत्ति को विकसित करना। साधुओं की तरह साध्वियां भी इस कार्य में संलग्न हो चुकी हैं।' हस्तलिखित-पत्रिकाएं–एषणा, अन्वेषणा आदि साध्वियों की शोधप्रधान दृष्टि और प्रगति की साक्षी हैं। साध्वियों की क्षमता पर विश्वास कर आपने आगम-संपादन और अनुसंधान के महायज्ञ में भी साध्वियों को जोड़ा। आगम शब्दकोष, आगमों का हिन्दी अनुवाद, संस्कृत छाया, टिप्पण लेखन, एकार्थक शब्दकोष, देशीशब्द कोष आदि कार्यों में साध्विवृंद ने अपनी निष्ठा, लगन, प्रतिभा के आधार पर काफी सफलता प्राप्त की। आचार्य प्रवर का विश्वास भरा अनुग्रह तथा आचार्य श्री महाप्रज्ञ का दिशा-दर्शन ही इस विकास यात्रा का प्राणतत्त्व था।

शिक्षा के साथ मननशीलता, विचारशीलता और सृजनशीलता में उत्तरोत्तर परिष्कार हो, इस दृष्टि से आचार्यश्री महाप्रज्ञ की प्रेरणा अत्यंत मूल्यवान रहीं।

गुरुदेव के सान्निध्य में आचार्यश्री महाप्रज्ञ आगमों का तलस्पर्शी अध्ययन-विवेचन कराते, इससे हम साध्वियों को आगमिक-अध्ययन की नयी दृष्टियां उपलब्ध होती रहीं, जो हमारी विकास यात्रा में सदा रत्न-दीर्घा का काम करती रही हैं।

साहित्य-साधना

जैन शासन में साहित्य की धारा सदा प्रवहमान रही, पर साहित्यकार के रूप में किसी साध्वी का नाम स्वतंत्र रूप से उभर कर सामने नहीं आया। आचार्य श्री तुलसी ने साध्वियों को इस दिशा में विशेषरूप से प्रेरित किया। साध्वियों की साहित्यिक रुचि जागृत हुई। उन्होंने लेखनी हाथ में ली और साहित्यिक क्षेत्र में गतिशील हो गई। वर्तमान में हमारे धर्मसंघ में अनेक साध्वियां लेखिका रूप में उभर रही हैं।

महाश्रमणी साध्वी प्रमुखा ने तो साहित्य की अजस्त्र धारा ही प्रवाहित कर दी है। उनके चिंतन की प्रौढ़ता, भाषा-शैलीगत सौष्ठव अनेक साहित्यकारों के लिए प्रेरणा स्रोत बन रहा है। महान विचारक जैनेन्द्रकुमार की भाषा में 'हमें लिख़ना तो कनकप्रभा से सीखना पड़ेगा'। साध्वी प्रमुखा द्वारा लिखित यात्रा-साहित्य तथा उनके द्वारा संपादित साहित्य आज साहित्य-जगत में शीर्ष-स्थान प्राप्त कर रहा है। आपके द्वारा संपादित 'भगवती की जोड़' नारी प्रतिभा और सृजन-कौशल का विलक्षण उदाहरण है।

साध्वियों की विकास-यात्रा में परम पूज्य गुरुदेव का पुरुषार्थ, आचार्यश्री महाप्रज्ञ की मनीषा के अतिरिक्त स्व. साध्वी प्रमुखा महासती श्री लाडांजी का अविस्मरणीय सहयोग रहा है। महाश्रमणी साध्वी प्रमुखा कनकप्रभाजी की प्रेरणा से साध्वी समाज ने शिक्षा, शोध, साहित्य की नयी उपलब्धियों के साथ नये युग में प्रवेश पाया है।

हमारी केन्द्रीय महाशक्तियों के समवेत प्रयासों की ही निष्पत्ति है कि तेरापंथ का साध्वी समाज ज्ञान-विज्ञान की नई-पुरानी धाराओं में अभिस्नात हो रहा है। अध्ययन, अध्यापन, लेखन, वक्तृत्व आदि क्षेत्रों में अकल्पित विकास हुआ है। शिक्षा के बहुआयामी स्रोत खुले हैं। अनेक साध्वियों ने विकास की पगडंडियों को पार कर राजस्थान पर भी चरणन्यास कर लिया है। इस महान् उपलब्धि के महान् प्रेरणास्रोत महाप्राण गुरुदेव ही थे। वे प्रतिभाओं के ऐसे विलक्षण पारखी थे कि कंकड़ पत्थरों में भी संभावनाएं तलाश लेते थे। उन्होंने कितने माटी के ढेले खोजे, उन्हें साफ किया, तराशा, चमकाया और उनमें प्राण-प्रतिष्ठा की। आज हमारे धर्म संघ में अनेक साध्वियां, हिंदी, संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं की अधिकृत विदुषी है। अनेक अवधानकार है। अंग्रेजी भाषा में भी कइयों ने अच्छी गति की है।

मुझे गर्व होता है इस बात को कहते हुए कि तुलसी की निर्माणशाला में उन अनगढ़ पत्थरों में एक नाम मेरा भी था, जिसे महान् जीवन निर्माता गुरुदेव ने एक आकार दिया। अनूठी थी उनकी सृजनकला। हम विद्यार्थी साध्वियां उनकी प्रशंसा का एक बोल, सहमति का एक संकेत पाकर पुलक उठती थी। गुरुदेव अपनी वात्सल्यभरी निगाहों से निहार लेते, बात कर लेते, हमारी छोटी-सी सफलता को सराह देते, वह दिन हमारे लिये त्योंहार बन जाता। उनकी एक मुस्कान, प्रोत्साहन देने वाला एक-एक शब्द सुनकर हमारे भीतर सौ-सौ ऊर्जा-धाराएं एक साथ सनसनाने लगती थी।

तेरापंथ धर्मसंघ का प्रगतिशील साध्वी समाज सदा आभारी रहेगा विकास के शलाकापुरुष युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी का, जिन्होंने उसे अंगुलि पकड़ कर चलना सिखाया, विकास की ऊंचाइयां दीं और एक स्वतंत्र पहचान दी। साध्वी समाज विकास के यात्रा-पथ पर जितना चला है, उससे कहीं अधिक चलना अभी शेष है। अपेक्षा है महाप्राण गुरुदेव का आशीर्वाद प्राप्त कर वह विभिन्न विषयों में विशेषज्ञता प्राप्त करें तथा श्रद्धेय आचार्यवर महाश्रमण की प्रेरणा साध्वियों की अंतश्चेतना के जागरण में विशेष प्रेरणास्रोत बने। ❐

तेरापंथ विलक्षण क्यों

मुनि पीयूष कुमार

राजस्थान के एक छोटे से गांव कंटालिया में जन्मे एक क्रांतिकारी युवक भीखण ने जब अपने समय के महानतम और शक्तिशाली धर्मसंघों से अलग होकर वैचारिक क्रांति का आगाज किया तो उसकी अनुगूंज अत्यंत धीमी थी। प्रतीत होता था कि यह क्रांति का पौधा खाद और पानी के अभाव में असमय ही मुरझा जाएगा किंतु यह पौधा फला-फूला और एक महान वटवृक्ष के समान छायादार और आश्रय स्थल बन गया।

आज ढाई सौ वर्ष बाद विश्व के बड़े-बड़े धर्मगुरु राजनेता बुद्धिजीवी और सामाजिक कार्यकर्ता वैश्विक समस्याओं के समाधान में इस छोटे से धर्मसंघ की महती भूमिका को स्वीकार कर रहे हैं। तेरापंथ नामक यह संघ इतना विलक्षण क्यों बना, इस विषय पर काफी अच्छा शोधकार्य किया जा सकता है। क्योंकि इसके अनगिनत आयाम हो चुके हैं और प्रत्येक आयाम अपने आपमें महाग्रंथ की हैसियत रखने वाला है।

प्राथमिक तौर पर तेरापंथ की विलक्षणता को प्रतिपादित करने के लिए चार आधार सूत्रों का प्रयोग किया जा सकता है–

1. ठोस सैद्धांतिक धरातल
2. मर्यादा और अनुशासन
3. समाधानपरक दृष्टिकोण
4. असांप्रदायिक चिंतन।

ठोस सैद्धांतिक धरातल

आचार्य भीखणजी (अथवा भिक्षु) ने तेरापंथ का निर्माण केवल दूसरों से अपने आपको अलग एवं विशिष्ट साबित करने के लिए नहीं किया। अपितु इसके पीछे ठोस सैद्धांतिक आधार था। आगम वाणी (तीर्थंकर महावीर के विचारों का संकलन) के आधार पर तैयार किए गए उन मौलिक सिद्धांतों ने बेशक व्यावहारिकता के नाम पर पनपने वाली सैद्धांतिक विकृतियों को चोट पहुंचाई मगर अपनी सटीकता के कारण

तात्कालीन बुद्धिजीवी वर्ग के बीच में अपनी गहरी पैठ भी स्थापित की। उनके संपूर्ण सिद्धांत को तो नहीं किंतु कुछेक बानगियों को प्रस्तुत करना चाहूंगा–

- त्याग धर्म है, भोग अधर्म है।
- व्रत धर्म है अव्रत अधर्म है।
- आज्ञा (वीतराग प्रभु की) धर्म है,
  आज्ञा के बाहर अधर्म है।
- हृदय परिवर्तन धर्म है
  बल प्रयोग अथवा जबरदस्ती धर्म नहीं है।

असंयमी जीव के जीने की वांछा करना राग, मरने की वांछा करना द्वेष तथा संसार समुद्र से तरने की वांछा करना वीतराग देव का धर्म है।

जीव जीवे ते दया नहीं,
मरे ते हिंसा मत जाण।
मारण वाले ने हिंसक कहयो,
नहीं मारे ते तो दया गुण खाण।

मर्यादा और अनुशासनः

सिद्धांत की ठोस बुनियाद के बावजूद अगर तेरापंथ के पास मर्यादा और अनुशासन का बल नहीं होता तो संघ इतना प्राणवान एवं तेजस्वी नहीं बन जाता। हम अपने आस-पास के वातावरण में ऐसे अनेक व्यक्ति खोज सकते हैं जिनके पास श्रेष्ठतम विचार हैं किंतु अपने जीवन में अनुशासन के अभाव के कारण उन व्यक्तियों की समाज में कोई विशिष्ट पहचान नहीं बन पाती। हम कल्पना कर सकते हैं कि तेरापंथ के पास महान सिद्धांत तो होते लेकिन साधुओं में स्वच्छंदता होती और संघ में नियंत्रण क्षमता का अभाव होता तो हमारा आकर्षण संघ के प्रति कैसा होता?

तेरापंथ के आचार्य मर्यादा को प्राणतत्त्व की उपमा यूं ही नहीं देते। वे जानते हैं कि जन साधारण बाह्य व्यक्तित्व के आधार पर भीतरी व्यक्तित्व की पहचान करने वाला होता है। वह सिद्धांतों से भी ज्यादा जीवनशैली पर ध्यान देता है। अनुशासन को पुष्ट करने के लिए भिक्षु ने कुछ मौलिक मर्यादाओं का निर्माण किया, जैसे–सभी साधु-साध्वियां एक आचार्य की आज्ञा में रहे, विहार एवं चातुर्मास आचार्य की आज्ञा के अनुसार करें, कोई अपने शिष्य-शिष्या न बनाए, योग्य व्यक्ति को दीक्षा दें, दीक्षा के पश्चात् यदि वह अयोग्य प्रतीत हो तो उसे संघ से अलग कर दे।

समाधानपरक दृष्टिकोण

कोई भी संघ कितना भी श्रेष्ठ क्यों न हो, जब तक वह समाज के लिए अपनी उपयोगिता को प्रमाणित नहीं कर पाता तब तक उसकी पहचान व्यापक नहीं बन सकती। तेरापंथ की विलक्षणता का एक मापदंड उसका समाधानपरक दृष्टिकोण भी है। उसने युगीन समस्याओं के संदर्भ में गहराई से चिंतन-मंथन और विश्लेषण किया और उसके समाधान भी उपलब्ध करवाए।

धार्मिकता केवल उपासनापरक न होकर आचरणपरक हो, इस दृष्टिकोण को सामने रखकर अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तन किया गया। शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक व्याधियों के आध्यात्मिक समाधान के रूप में प्रेक्षाध्यान का प्रणयन किया गया। शिक्षा के क्षेत्र में आध्यात्मिकता का पुट देने हेतु जीवन-विज्ञान का निर्माण किया गया। जैन दर्शन के व्यापक प्रचार प्रसार एवं विश्व के कोने कोने में फैल चुके जैन समाज की सार संभाल हेतु समण श्रेणी का गठन किया गया। इसी प्रकार अहिंसा प्रशिक्षण, सापेक्ष अर्थशास्त्र, उपासक श्रेणी, ज्ञानशाला आदि विभिन्न उपक्रम समय-समय पर सामने आते गए और तेरापंथ की व्यापक सोच को जग जाहिर करते गए। आज जब भी समस्याओं पर चिन्तन किया जाता है तो तेरापंथ को एक समाधायक के रूप में याद किया जाता है।

असांप्रदायिक चिंतन–जनता में आध्यात्मिक चेतना के जागरण में विभिन्न धर्म-संप्रदायों ने जहां अपनी भूमिका का निर्वहन किया है वहीं कभी-कभी अपने कट्टरपंथी नजरिए के कारण वे सामाजिक विभाजन एवं हिंसा के कारक भी बने हैं। जब-जब भी अध्यात्म को संप्रदाय के घेरे में बंदी बनाए रखने का प्रयास किया

गया है तब-तब अध्यात्म की हानि ही हुई है। तेरापंथ अपने उद्भव काल से ही आध्यात्मिक विकास के मामले में संप्रदाय की भूमिका को लेकर निरपेक्ष ही रहा है। आचार्य भिक्षु के मौलिक सिद्धांतों में से एक था–'मिथ्यात्वी की सत्करणी जिनेश्वर की आज्ञा में'। आचार्य तुलसी ने इसी आधारभूत तथ्य को सामने रखते हुए संप्रदायविहीन धर्म अणुव्रत का प्रवर्तन किया।

आज के युग में किसी गुरु परंपरा से बंधे बिना जीवन को आध्यात्मिक उच्चता देने हेतु अणुव्रत के असांप्रदायिक परिवेश को अंगीकार किया जा रहा है। हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई आदि विभिन्न धर्मों के अनुयायी बेहिचक अणुव्रती बने हैं, क्योंकि इसमें तेरापंथ के आचार्य को गुरु रूप में स्वीकार करना अपेक्षित नहीं है और इस प्रकार तेरापंथ समाज के अनुयायिवर्ग की संख्या लाखों में होते हुए भी इसका कार्य क्षेत्र काफी व्यापक बन गया है।

सदा सर्वदा अपनी परंपरावादी सोच के साथ चलते हुए भी युगीन चिंतन से निरपेक्ष न रहने वाला तेरापंथ अपने निर्माण के ढाई सौ वर्ष मना चुका है। इसे आचार्य भिक्षु द्वारा चिर जीविता का वरदान प्राप्त है मगर एक शर्त पर कि जब तक इसका साधु साध्वी एवं अनुयायिवर्ग चरित्र निष्ठ एवं आचारशील रहेगा तथा शिथिलाचार से दूर रहेगा, इस संघ का कोई बाल भी बांका नहीं कर सकेगा। इस तरह विलक्षणता और तेजस्विता के साथ-साथ चिरजीविता को कायम रखने की जिम्मेवारी भी भिक्षु हमारे हाथों में सौंप गए है। देखना होगा कि हम कब तक उस जिम्मेवारी को निभा पाते हैं। ❑

घर–परिवार और मित्र–परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर **'जैन भारती'** उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक–नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म–दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, **'जैन भारती'** अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन भारती

एक संपूर्ण पत्रिका है।

वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए

जैन भारती

पढ़ें–सबको पढ़ाएं

व्यवस्थापक

जैन भारती

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

तेरापंथ भवन

महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401

आचार्यश्री तुलसी का शिक्षा दर्शन

श्री स्वरूप चन्द्र जैन

आचार्यश्री तुलसी जैन धर्म के एक ऐसे आचार्य हैं, जिनकी ख्याति भारत में ही नहीं अपितु समस्त विश्व में फैली हुई है। आप जैन आचार्य ही नहीं अपितु भारत के राष्ट्रपति द्वारा 'युग प्रधान' की पदवी से भी विभूषित किये गये हैं। भारत में नैतिक मूल्यों की प्रतिस्थापना और जन-साधारण के चरित्र निर्माण की दिशा में अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तन कर नैतिक शिक्षा की दिशा में आचार्यश्री के प्रयत्न बेमिसाल हैं। मैंने आचार्यश्री को बहुत अधिक सन्निकटता से देखा है, समझा है, और उनकी प्रेरणा से अपने जीवन में आमूल-चूल परिवर्तन किया है। मुझे लगता है कि आचार्यश्री एक धार्मिक नेता तो हैं ही, देश में सांस्कृतिक और नैतिक मूल्यों की प्रतिस्थापना के उन्नायक भी हैं। इसके साथ-साथ यह कहना भी पूर्णतः समीचीन होगा कि वह देश के ही नहीं अपितु विश्व के एक महान शिक्षा शास्त्री भी हैं।

आचार्यश्री के शिक्षा संबंधी विचार केवल मात्र काल्पनिक चिंतन और दार्शनिक विचारधाराओं पर ही आधारित नहीं हैं, अपितु महात्मा गांधी की तरह ही उन्होंने अपनी शैक्षिक मान्यताओं का निर्माण शिक्षा संबंधी प्रयोगों के आधार पर किया है।

यदि हम आचार्यश्री द्वारा लिखे गये भिन्न-भिन्न ग्रंथों का अध्ययन शिक्षा विज्ञान की दृष्टि से करें, उनके द्वारा भिन्न-भिन्न समयों पर दिये गये प्रवचनों को पढ़ें, और उनके सान्निध्य में संचालित भिन्न-भिन्न संस्थाओं की कार्य पद्धतियों को समझें तो ये पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि सभी सुनियोजित एवं सुव्यवस्थित शैक्षणिक पृष्ठभूमि पर आधारित हैं। यों तो आपका कोई भी प्रवचन ऐसा नहीं होता जिसमें देश की शिक्षा और देश के बालक-बालिकाओं की शिक्षा-दीक्षा के संबंध में उचित दिशा-निर्देश नहीं मिलता हो, लेकिन इसके साथ-साथ आपके अनेक प्रवचन, अनेक लेख और अनेक पुस्तकें ऐसी हैं, जो मूलतः शिक्षा संबंधी विचार-धाराओं और मान्यताओं से ही परिपूर्ण हैं।

शिक्षा के उद्देश्य और आदर्श

आचार्यश्री तुलसी के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य शिक्षार्थी को केवल अक्षर-ज्ञान कराना ही नहीं है, वरन शिक्षा के आदर्श रूप की व्याख्या करते हुए वह फरमाते हैं कि आदर्श शिक्षा प्रणाली वही हो सकती है जिसमें सत्यवादिता, सच्चरित्रता, शालीनता और विनम्रता की सत् शिक्षाएं दिये जाने का प्रावधान हो और विद्यार्थियों को पुस्तकीय ज्ञान ही नहीं अपितु सक्रिय ज्ञान की प्राप्ति की दिशा में अध्ययन, अनुशीलन और क्रियात्मक प्रयोग करने के अवसर उपलब्ध

हों। जीवन के आदर्शों के साथ साक्षात्कार कराने में शिक्षा प्रणाली का सक्षम होना नितांत आवश्यक है। उनके अनुसार जीवन विकास ही ज्ञान का सही स्वरूप है। वास्तविक ज्ञान की व्याख्या करते हुए उन्होंने एक प्रवचन में कहा है कि जिससे आत्मा का चैतन्य प्रकाश में आये, मोहावृत आत्मा शुद्ध बने, वही वास्तविक ज्ञान है और जो शिक्षा प्रणाली, शिक्षार्थी को इस प्रकार के वास्तविक ज्ञान की उपलब्धि कराये वही शिक्षा प्रणाली, एक आदर्श प्रणाली कही जा सकती है। जिस प्रकार गधे पर चंदन का भार भी भार ही रहता है वैसे ही मात्र पुस्तकीय ज्ञान व्यक्ति के लिये निरर्थक ही नहीं अपितु व्यर्थ है।

शिक्षा प्रणाली की उक्त व्याख्या के अनुसार आचार्यश्री तुलसी की दृष्टि में शिक्षा के निम्न उद्देश्यों को प्राथमिकता दी जानी चाहिये।

1. आत्म वृत्तियों का परिष्कार।
2. जीवन के शाश्वत सत्यों का साक्षात्कार।
3. चारित्रिक विकास।
4. शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक धाराओं में सर्वतोन्मुखी विरोधहीन विकास।

इन शिक्षा के उद्देश्यों को आधार मानते हुए 21 मई, 1955 को 'धरण' गांव में प्रवचन देते हुए आचार्यश्री ने शिक्षा की जो व्याख्या की है, उसको यहां उन्हीं के शब्दों में लिखना अधिक समीचीन होगा। 'शिक्षा अध्यात्मवाद का आधार लेती हुई हो, शिक्षकों का चरित्र निर्मल हो ताकि वे शिक्षार्थियों के समक्ष स्वयं एक मूर्त आदर्श हों। शिक्षार्थी सदाचार एवं संयम के प्रति निष्ठावान हों अर्थात् बहिर्मुख न होकर वे अंतर्मुखी वृत्ति वाले हों।'

शिक्षण विधियां

आचार्यश्री की शिक्षण विधियां आध्यात्मिक एवं प्रजातांत्रिक मान्यताओं पर आधारित हैं। उनके अनुसार विद्यार्थी को अपना मत अभिव्यक्त करने का और शंकाओं का निःसंकोच रूप से समाधान करने के लिये स्पष्ट रूप से प्रश्न किये जाने के अवसर उपलब्ध होने चाहिये। वह शिक्षा के औपचारिक स्वरूप को ही शिक्षा का सम्यक स्वरूप मानने में संकोचशील है। उनकी मान्यता के अनुसार समस्त जीवन एक शिक्षालय है। जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में प्राप्त अनुभवों के अनुसार व्यक्ति को नयी-नयी शिक्षाएं प्राप्त करने के अवसर उपलब्ध होते रहते हैं। उनके अनुसार शिक्षा की गति जीवन की किसी भी अवस्था में अवरुद्ध नहीं होतीं। इस दृष्टि को प्रधानता देते हुए अणुव्रत आंदोलन के माध्यम से आचार्यश्री ने बालक, युवक, प्रौढ़ और वृद्ध सभी स्त्री-पुरुषों के लिये पुस्तकीय शिक्षा के साथ-साथ सामाजिक, सांस्कृतिक एवं नैतिक शिक्षा दिये जाने की आवश्यकता पर बल दिया है।

शिक्षा क्रम

आचार्यश्री के विचारों के अनुसार शिक्षा क्रम किसी भी शिक्षा प्रणाली की आत्मा है। आधुनिक शिक्षा शास्त्रियों के अनुरूप वह स्पष्ट रूप से मानते हैं कि शिक्षा क्रम और शिक्षा के उद्देश्यों में पूर्ण ताल-मेल रहना चाहिये। आपके मत में वह सभी शैक्षणिक अनुभव, जिनका शिक्षा के उद्देश्यों की उपलब्धि हेतु शिक्षार्थी को प्रदान किया जाना आवश्यक है, अवश्यमेव शिक्षार्थी के समक्ष प्रस्तुत किये जाने चाहिये। चाहे वह पुस्तक के माध्यम से हो, चाहे विभिन्न क्रियात्मक, विचारात्मक और साधनात्मक प्रवृत्तियों के माध्यम से हो। आवश्यकता इस बात की है कि बालक को जीवन के सही दृष्टिकोण, जीवन जीने की सही कला और मार्ग के सही स्वरूप को आत्मसात करने के पूर्ण अवसर उपलब्ध होने चाहिये। इसके लिए उन्होंने निम्नांकित विषयों की शिक्षा क्रम के अभिन्न अंग मानने की आवश्यकता पर बल दिया है।

1. अध्यात्म-विज्ञान
2. सांस्कृतिक एवं सामाजिक अध्ययन
3. साधना और योग का व्यावहारिक प्रशिक्षण
4. आचार शास्त्र

5. लिखना-पढ़ना

6. हिसाब-किताब

7. शरीर विज्ञान एवं शारीरिक श्रम

8. ललित कलायें

उन्होंने विषय के ठोस और व्यापक ज्ञान को शिक्षा क्रम की मूल-भूत आवश्यकता माना है और उनके अनुसार शिक्षा में सभी विषयों के अनेक ऐसे प्रसंगों का समावेश होना चाहिये जो चारित्रिक मूल्यों की प्रतिस्थापना में अधिकाधिक योग प्रदान करें। बालक की शक्ति को निष्ठा, शील, अहिंसा, संतोष आदि भावनाओं की ओर उत्प्रेरित करें ताकि उसका जीवन सही माने में उन्नत और सुखी बन सकें।

मूल्यांकन एवं परीक्षा विधि

आचार्यश्री तुलसी शिक्षा में शिक्षार्थियों की शिक्षा संबंधी उपलब्धियों के मूल्यांकन की प्रणाली को शिक्षा व्यवस्था का एक आवश्यक अंग मानते हैं। मूल्यांकन के संबंध में उनका निश्चित मत है कि शिक्षार्थियों की ज्ञानात्मक, आध्यात्मिक एवं अन्य सभी प्रकार की उपलब्धियों के मूल्यांकन की व्यवस्था एकांगी नहीं होनी चाहिये और साथ ही इसको किसी समय विशेष अथवा अवधि विशेष की सीमा में बांधना भी उचित नहीं होगा।

आधुनिक मूल्यांकन विशेषज्ञों की भांति वह यह अनुभव करते हैं कि बालकों की शिक्षा संबंधी उपलब्धियों का मूल्यांकन सतत होना चाहिये। लिखित एवं मौखिक परीक्षाओं के अतिरिक्त क्रियात्मक परीक्षाओं के द्वारा भी शिक्षार्थी की उपलब्धियों की जांच करना आवश्यक समझते हैं। साधना, ध्यान, योग, आचार एवं कलात्मक उपलब्धियों के क्षेत्र में शिक्षार्थी की जांच, उसके व्यवहार एवं आचरण के सतत परिवेक्षण द्वारा करना आवश्यक मानते हैं। सतत परिवेक्षण को भी वह किसी अवधि की सीमा में नहीं बांधते अपितु इसके लिए परीक्षक और परिवेक्षक को पूर्ण स्वतंत्रता देना चाहते हैं और यह अनुभव करते हैं कि जब तक परिवेक्षक को यह पूर्ण विश्वास न हो जाये कि शिक्षार्थी ने निर्धारित माप दंड के अनुसार अपेक्षित कार्यक्षमता प्राप्त कर ली है, उस समय तक उसे सावधानीपूर्वक निरंतर शिक्षार्थी के व्यवहार का निरीक्षण करते रहना चाहिये।

आचार्यश्री शिक्षार्थियों के आंतरिक मूल्यांकन और स्वयं मूल्यांकन की प्रणाली को भी आवश्यक मानते हैं। उन्होंने उक्त सभी प्रणालियों का अपने संघ में दीक्षित होने वाले दीक्षार्थियों की शिक्षा व्यवस्था में प्रयोग किया है और प्रयोगों के मांगलिक परिणामों के आधार पर ही इस संबंध में अपनी स्पष्ट नीति निर्धारित की है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि आचार्यश्री तुलसी एक धर्माचार्य ही नहीं है, वह तेरापंथ संप्रदाय के एक महान नेता और प्रहरी ही नहीं है, अपितु वह एक महान शिक्षा शास्त्री भी हैं। उनकी शिक्षा व्यवस्था में महान शिक्षा शास्त्री काण्ट और प्लेटो की जहां आदर्शवादी विचारधारा के दर्शन होते हैं, वहां उनकी शिक्षा संबंधी विचारों में रुसो और फ्रोबिल का प्रकृतिवादी दृष्टिकोण भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित हो रहा है। यही नहीं, शिक्षा प्रणाली, शिक्षा क्रम एवं अनुशासन संबंधी व्यवस्थाओं में उन्होंने विलियम जेम्स और जौन डीवी की विचार-धाराओं को भी अपनाया है। आचार्यश्री के शिक्षा संबंधी विचारों को आदर्शवाद, प्रकृतिवाद, प्रयोगवाद अथवा यथार्थवाद आदि शिक्षा संबंधी विचार धाराओं में वर्गीकृत करना उचित नहीं होगा क्योंकि प्रारंभ से ही आप एक समन्वयवादी विचारक रहे हैं। आपने समन्वयवादी विचारधारा की प्रतिस्थापना करके शिक्षा जगत में एक कीर्तिमान की स्थापना की है।

मेरी यह मान्यता है कि आचार्यश्री के शिक्षा संबंधी विचारों का उपयोग हमारे देश की शिक्षा व्यवस्था के पुनर्निर्माण और पुनर्नियोजन में पूरी तरह से किया जाना चाहिये। अंत में आचार्यश्री के चरणों में शत-शत वंदन करते हुए और शिक्षा जगत के क्षेत्र में आचार्यश्री की अपूर्व साधना के प्रति अपनी कृतज्ञता करता हूं। ❐

बदलना हमारा संस्कार है

सुश्री वीणा जैन

व्यवहार की भूमिका पर आज एक आम बात हो गई कि हम जब भी किसी के साथ संवाद करते हैं, खुलकर आत्मीयभाव से बात करते हैं तो एक सच सामने आता है कि सभी लोग इस बात से सहमत हैं कि चारित्रिक विकास होना चाहिए, आपसी प्रेम होना चाहिए, सांप्रदायिक सद्भावना होनी चाहिए। शराब, चरस, गांजा आदि का नशा करना, जो जीवन की बुरी लत है, उससे समाज को मुक्ति मिलनी चाहिए।

बुरे को बुरा मानना हर इंसान की फितरत में है। जो मूलतः हर व्यक्ति के स्वभाव में निहित है। फिर हमारी ऐसी कौनसी कमजोरी है कि समाज इन बुराइयों से और अधिक आक्रांत होता जा रहा है। गलत परिणामों को भोग भी रहा है, फिर चाहकर भी क्यों नहीं मुक्त हो पा रहा है। आज जरूरत है बुराई की जड़ को खोजने की, उसे उखाड़ने के लिए उपयुक्त कुल्हाड़ी की खोज की और उस आस्था, विश्वास, हिम्मत की, जिससे हम उन बुराइयों पर प्रहार कर सकें।

एक संन्यासी से आचार्यश्री तुलसीजी ने पूछा कि अफीम, चरस, गांजा को आप यदि बुरी चीज मानते हैं तो आपके आश्रम में ये सब क्यों चलता है? संन्यासी के द्वारा उत्तर मिला–'मस्ती के लिए'। बस, भूल यहीं हो रही है। हम मानकर बैठे हैं कि यह बुराई है, पर साथ-साथ इस सोच को भी पाले बैठे हैं कि बुराई को मिटाने का प्रयत्न हमारे द्वारा नहीं, दूसरों के द्वारा हो। आप स्वयं मान्यताओं, संस्कारों और अपनी आदतों द्वारा प्रेरित होते रहें, उसे ही पुष्ट करते रहें और उसी राह पर चलते रहें, जिसे आप सही मान रहे हैं तो फिर आप ही बताइए कि जीवन में परिवर्तन आएगा कैसे? क्या समाज व्यक्तियों से पृथक् है? क्या कुछ महान चंद हस्तियों का बुराई के मिटाने का अपना जी-तोड़ प्रयत्न परिवर्तन ला सकेगा? यदि व्यक्ति अपने को पृथक्-पृथक् कर समाज में परिवर्तन की मांग करता रहे तो क्या बर्फ की एक बूंद गर्म तवे को ठण्डी कर सकती है? तो फिर क्या करें? क्या नियति और काल

का इंतजार करते रहें कि तवा स्वयं ठण्डा होगा तब कोई अवतार आकर परिवर्तन लाएगा? नहीं। सौभाग्य से कुछेक क्रांतिकारी महान पुरुष अकर्तृत्व भाव से सतत प्रयत्न करते रहते हैं। उनमें से एक आचार्य तुलसीजी हैं।

आचार्य तुलसीजी के संपूर्ण साहित्य को यत्किंचित् अवगाहन करने के पश्चात् एक बहुत आश्चर्यभरा प्रश्न उपस्थित होता है कि इतना ऊंचा व्यक्तित्व, सुलझा हुआ व्यक्तित्व अध्यात्म के प्रति पूर्ण समर्पित व्यक्तित्व समाज की छोटी-मोटी सभी बुराइयों पर प्रहार करते-करते, उसे दोहराते-दोहराते थका क्यों नहीं? उनका क्या स्वार्थ था? अच्छे-से-अच्छा अध्यापक भी बार-बार समझाने पर विद्यार्थी नहीं समझते हैं तो फिर आखिर में वह भी मौन हो जाता है यह सोचकर कि नहीं बदलता है तो मैं क्या करूं? पर यह अध्यापक, गुरु तुलसी अंतिम समय तक न थके, न कभी हारे। क्रांतिकारी परिवर्तन लाने के लिए शायद वे यही सोचकर चलते रहे कि नियति, काल और पुरुषार्थ की समन्विति कभी-न-कभी तो रंग लाएगी और हर कदम क्रांति के बीज बोते रहे।

उनके जनम के सौ वर्ष पूर्ण हो रहे हैं और हम अपनी खुली आंखों से देख रहे हैं कि उनके अथक प्रयास से समाज में जो कुछ भी परिवर्तन आया है, वह इस बात का साक्षी है कि उन्होंने कभी अहंभाव से, कर्तृत्वभाव से या अगुआ बनने के भाव से कोई भी कार्य नहीं किया। वे छोटी-से-छोटी झोंपड़ी में भी रहें, और बड़े-से-बड़े राजमहल में भी रहे सिर्फ इसलिए कि प्रत्येक व्यक्ति का चारित्रिक उत्थान हो सके। उनके हाथ में तो पुरुषार्थ की कुल्हाड़ी थी और यह ज्ञान भी था कि चोट कहां करनी है। उनका यह प्रयत्न बेशक छोटे से समाज में छोटे-से वर्ग से प्रारंभ हुआ, पर आगे चलकर व्यक्तित्व बदलाव का जबरदस्त क्रांतिकारी अभियान बना।

आज समाज में कुरीतियों, बुराइयों ने हमारे आस-पास जो जाल बिछा रखा है, जो गरमाहट चारों ओर बिखेर रखी हैं, उसे ठंडक देने के लिए, उसे पूर्ण विराम देने के लिए एक तुलसी का प्रयत्न क्या पर्याप्त होगा? उन्होंने तो अपनी सुवास का अहसास करा दिया। अब अपेक्षित है कि उसी सुवास को फैलाने की फिर हमारे भीतर एक संकल्पी चेतना जागे।

पुष्प की सुगंध स्वयं पुष्प में कैद रहती है, वह स्वयं नहीं फैलती है। उसे फैलाने के लिए हवा का झोंका चाहिए। यह हवा का झोंका बनने के लिए हमें आज फिर स्वयं में तुलसी का वह जागता आह्वान महसूस करना होगा, सही रूप में बदलाव लाने के लिए अपने भीतर की आवाज को सुनना होगा।

महावीर ने भी कहा था कि उन्हें महावीर का भक्त नहीं चाहिए बल्कि प्रत्येक व्यक्ति में वह आस्था और क्षमता जागे कि वह स्वयं महावीर बन जाए।

व्यक्ति-व्यक्ति अपने अंतरात्मा की आवाज सुनकर अपने स्वयं में परिवर्तन लाना प्रारंभ कर दे तो वह दिन दूर नहीं होगा कि जब हम गर्व के साथ कह सकेंगे कि हम तुलसी के सच्चे अनुयायी हैं। यही प्रयास हमारी सच्ची श्रद्धांजलि होगी और अपने आंतरिक और बाह्य आचरण में एकरूपता ला सकेगी। ❑

सामाजिक 'आचार-संहिता' : एक प्रस्तुति

तेरापंथी श्रावक-श्राविकाओं के लिए सामुदायिक समारोहों में गरिमापूर्ण प्रदर्शन हेतु

मोहनसिंह भंडारी

व्यक्ति के जीवन में जन्म, विवाह, गृह प्रवेश, पदोन्नति, सफलता आदि अनेक खुशी के अवसर आते हैं। इन अवसरों पर रीति-रिवाज के अनुसार या अपनी व्यक्तिगत स्वेच्छानुसार सामुदायिक भोज और उत्सव आयोजित किए जाते हैं। व्यक्ति के सामाजिक पहलू में ये उत्सव सौहार्द्र, मित्रता और परस्पर संबंधों के द्योतक होते हैं जो जीविका को सरस और रोचक बनाते हैं। इन प्रीतिभोजों और समारोहों का प्रयोजन होता है–अपने प्रियजनों के साथ मिलन और खुशियां बांटना। अतः सबसे पहले यह स्पष्ट करना जरूरी है कि यह 'आचार-संहिता' ऐसे समारोहों को रोकने या कम करने के लिए नहीं है बल्कि उन्हें अधिक गरिमापूर्ण, स्वीकृत और सकारात्मक करने के लिए है। अतिरेक कहीं भी, कभी भी अच्छा नहीं होता है।

जैन तेरापंथ समाज धार्मिक सिद्धांतों के अनुरूप संयमित एवं संतुलित होना चाहिए–यह सर्वमान्य है। अपेक्षा है कि हमारी मान्यताएं हमारे सभी वर्गों के सदस्यों के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में भी झलकें। लेन-देन में, प्रदर्शन में, रिवाजों में, व्यवहार में कुछ सीमाएं हों। रीति-रिवाजों के सरलीकरण के द्वारा तेरापंथ श्रावक-श्राविका की एक पहचान होनी चाहिए। सम्मानित किंतु संतुलित, संयमित और मर्यादित उत्सवीकरण में तेरापंथ समाज की पहचान होनी चाहिए। इसके लिए एक सामाजिक आचार-संहिता को लागू किया जाना आवश्यक है। समाज में कोई नियम निर्धारित होता है तो उसकी पालना में किसी का गर्व खंडित नहीं होता, गर्व गौरव बन जाता है।

आज किसी भी समाज में व्यक्ति-व्यक्ति के बीच आर्थिक समानता नहीं है और यह संभव भी नहीं है किंतु असमानता की खाई इतनी गहरी भी नहीं होनी चाहिए कि वह भूचाल बन जाए। धन-संग्रह, धन-अर्जन, धन-व्यय की सीमाएं निर्धारित नहीं हैं। इसकी कोई व्यवस्था भविष्य में होगी, संभव नहीं लगता। किंतु कम-से-कम धन के अधिकाधिक प्रदर्शन को नियंत्रित करना हर सभ्य समाज का दायित्व है। जन-साधारण की आंखों में खटकने वाला व्यय अपव्यय की श्रेणी में आ जाता है, अश्लील बन जाता है। जिस समुदाय के चंद धनाढ्य लोग जन-साधारण की भावनाओं के प्रति संवेदनशील नहीं होते, वह समुदाय वह समाज ईर्ष्या-द्वेष का शिकार होकर धीरे-धीरे टूट जाता है। आवश्यकता है कि दुनिया को त्याग, अपरिग्रह और संयम का पाठ पढ़ाने वाला जैन समाज भोग, परिग्रह आदि का अमर्यादित दिखावा न करे।

समाज में व्याप्त असंगतियों को दूर करने के लिए एवं सामाजिक समारोहों में अपव्यय एवं दिखावे को कम करने के लिए एक 'आचार-संहिता' लागू हो जिसका पालन प्रत्येक तेरापंथी श्रावक-श्राविका के लिए अनिवार्य है।

1. प्रत्येक सामुदायिक समारोह, उत्सव-आयोजन आदि सादगीपूर्ण हो। सामुदायिक भोज में पेय पदार्थों को छोड़कर यथासंभव 15 द्रव्यों से अधिक प्रयुक्त न किए जाएं। विशेष परिस्थिति में अधिकतम द्रव्यों की संख्या 21 तक पहुंच सकती है। पारिवारिक भोज में यह सीमा लागू नहीं है।

   (पेय पदार्थों में दूध, चाय, कॉफी, कोल्डड्रिंक, शर्बत, ठंडाई, जूस, सूप, पानी शामिल है।)
2. तेरापंथ परिवार के वर-पक्ष की बाहरी बरात में 100 से अधिक व्यक्ति न जाएं। इस संख्या में केवल वे ही शामिल हैं जिनके लिए रात्रि में ठहरने की व्यवस्था आवश्यक है। यदि वर-पक्ष अन्य संप्रदाय का हो तो यह नियम वधू-पक्ष पर लागू नहीं होता।
3. पंडाल में आवश्यक सुविधाएं ही प्रदान की जाएं। तड़क-भड़क और अनावश्यक सजावट-रोशनी आदि पर अपव्यय न किया जाए।
4. मादक पदार्थों का प्रयोग सर्वथा वर्जित है।
5. बरात के जुलूस में सड़कों पर आतिशबाजी का प्रयोग न किया जाए।
6. बरात के जुलूस में सड़कों पर नृत्य न हो।
7. निमंत्रण-पत्र सादगीपूर्ण हो
8. दहेज की मांग, अनुबंध या प्रदर्शन न हो।
9. उपहारों का खुला प्रदर्शन न किया जाए।
10. तपस्या के उपलक्ष में भोज का आयोजन न हो। तपस्या के अवसर पर बैंड-बाजों का प्रयोग न किया जाए। भक्ति गीतों द्वारा तप-अनुमोदना के कार्यक्रम में पेय पदार्थों का प्रबंध किया जा सकता है।
11. वधू-पक्ष के यहां समय पर बरात पहुंचने की व्यवस्था सुनिश्चित की जाए।
12. विवाह के उपलक्ष में कोई परिवार दो से अधिक सार्वजनिक भोज आयोजित न करे।
13. दिन में विवाह आदि उत्सव आयोजित करने के लिए अधिकाधिक व्यक्तियों को प्रोत्साहित किया जाए।
14. सामूहिक विवाह की व्यवस्था को प्रोत्साहित किया जाए।
15. मृत्यु-भोज न रखा जाए। मृत्यु के पश्चात आध्यात्मिक संबल प्राप्त करने के लिए, गुरु-दर्शन के लिए आने वाले पारिवारिक सदस्य कोई भोज का आयोजन न करें।

नियमों के उल्लंघन की दशा में :

1. तेरापंथ परिवार के किसी उत्सव आयोजन में यदि आचार-संहिता की किसी धारा का उल्लंघन होता है तो कोई भी तेरापंथी व्यक्ति उस समारोह में भोजन नहीं करेगा। कोई भी व्यक्ति समारोह में शांति भंग करने का या अशांति फैलाने का प्रयास नहीं करेगा।
2. तेरापंथी समाज की किसी संस्था या इकाई का कोई पदाधिकारी अगर 'आचार-संहिता' के किसी नियम का पालन नहीं करता है तो उसे स्वतः पद से त्याग-पत्र दे देना चाहिए।

स्पष्टीकरण

अन्य संप्रदाय के सदस्यों द्वारा आयोजित समारोहों में सम्मिलित होने पर कोई रुकावट नहीं है। इस आचार-संहिता द्वारा तेरापंथी परिवार अपनी ओर से एक उदाहरण प्रस्तुत करे, यही इन नियमों का ध्येय है। सादगी एक मनोवृत्ति है जिसकी भावना का अनुपालन किया जाए। गालियां निकालने की प्रवृत्ति शिथिलता का परिचायक है जो अन्य समाजों में उपहास का कारण बन सकती हैं। अतः उस प्रवृत्ति से बचना अत्यावश्यक है। ❑

भये कबीर उदास

अमोलक

अंत समय जब निकट आता देखते हैं तब मौत का भय मन में आकुलता व्याकुलता उत्पन्न कर देता है और व्यक्ति काशी में जाकर रहने लगता है। कहते हैं कि काशी में जो शरीर छोड़ते हैं वे मोक्ष को प्राप्त होते हैं। काशी में भगवान विश्वनाथ है, जो अंतिम समय में व्यक्ति के कान में राम नाम का मंत्र सुनाते हैं जिससे कल्याण हो जाता है, ऐसी मान्यता है।

महान संत कबीर दक्षिण की यात्रा कर, जगह-जगह धर्म का प्रचार करते, सोये हुये व्यक्तियों को जगाते पुनः काशी आ गये थे। इस यात्रा में जो कुछ देखा तो कबीर को अत्यंत दुःख हुआ। कबीर कहते हैं कि यह संसार की चक्की लगातार चल रही है, इसमें लोग आते हैं पीसते हैं और संसार छोड़कर चले जाते हैं, फिर जन्मते हैं, मरते हैं किंतु इस आवागमन से छूटने का प्रयास ही नहीं कर रहे हैं, क्या हो गया है इस जगत को, मात्र लोभ, मोह, माया, स्वार्थ में ही सब कुछ खो रहे हैं, यह देखकर कबीर रो पड़ते हैं।

चलती चक्की देखकर दिया कबीरा रोय।
दो पाटन के बीच में साबुत बचा न कोय।।

कबीर का दुःख प्रत्येक जीव के उद्धार के लिये है, कबीर जैसे महान संत बहुत कम हुए हैं। कबीर सबका कल्याण चाहते हैं। एक दिन कबीर अपने शिष्यों से कहते हैं कि यह जग-संसार झूठा है अपने स्वार्थ के लिये यहां कुछ भी करना पड़े तो मनुष्य कर बैठता है, अशुभ कर्मों का बंधन करता है और फिर उन कर्मों का फल भोगते समय दुखी होता है। कबीर कहते हैं कि यहां कुसंग ही कुसंग है, बुरी संगत से आत्मा की चादर मैली करते हैं, सत्संग में जाये, तो सुख ही सुख प्राप्त होता है।

सत्संग से सुख उपजे, और कुसंग दुःख होय।
कहे कबीर वहां जाइये, जहां सत्संग मेला होय।।

सत्संग करे, साधु संगत करे तो आत्मा की पहचान हो, आत्मज्ञान हो जाये तो इस संसार का आवागमन समाप्त हो जाये। एक बार कबीर इस संसार को देखते हुये कहते हैं कि मुझे रोना आता है, यहां लोग रंगी हुई वस्तु को नारंगी कहते हैं, जो दूध जलकर, तपकर शुद्ध खोवा हो जाता है–उसे खोया कहते हैं, पाने को खोना और जो गाड़ी चल रही है–उसे गड्डी कहते हैं, यह कैसा संसार है!

रंगी को नारंगी कहे, कहे दूध को खोया।
चलती को गड्डी कहे, देख कबीरा रोया।।

लोग उपरोक्त बातों की तरह ही स्वार्थ, मोह, लोभ, धन संपत्ति इन्हें ही सत्य मानते हैं, जो असत्य है, झूठ है, नश्वर है, उसे सत्य मानकर इस दुर्लभ मनुष्य जीवन को व्यर्थ खो देते हैं। पका हुआ फल जैसे वृक्ष की डाल पर दुबारा नहीं लगता है, वैसे ही मनुष्य जीवन बार-बार नहीं मिलता, अतः इस अवसर का उपयोग करें, परमात्मा की खोज करें :

मनुष्य जीवन देवन से दुर्लभ, मिले न दूजी बार।
पक्का फल जब गिर पड़े, तो बहुरि ना लागे डार।।

इस मनुष्य जीवन में आकर जो अनमोल है, हमारी गठरी में हीरे, मोती, माणक, लाल भरे पड़े हैं, उसे खोलकर कोई देखता ही नहीं, इसलिये स्वयं को असहाय, भिखारी और कंगाल समझता है। कबीर कहते हैं–

कबीर इस संसार में, सबकी गठरी लाल।
गांठ खोल जाने नहीं, ताते बने कंगाल।।

आगे कबीर कहते हैं कि राम नाम रूपी रतन धन, लाल हमारे घट के भीतर है, जैसे मेहंदी के पत्तों में लाली भीतर है, छिपी है, दिखाई नहीं देती है, यदि उसे पीसकर उसे लगाने की कला हो तो लाली बाहर आ जाती है :

कबीर मूरति राम की घट घट रही समाय।
ज्यों मेहन्दी के पात में लाली लखी न जाय।।

फिर कबीर कहते हैं कि इस कला को जानने के लिये उस कलाकार का साथ करो जिसने जान लिया है, उस भेदी को, साधु को खोजो जिसने जाना है वह तुम्हें भी उस वस्तु का भेद बता देगा, उसकी शरण में तो जाओ–

वस्तु कहीं ढूंढ़े कहीं, केहीं विधि आवे हाथ।
कबीर वस्तु तब पाइये, भेदी लीजे साथ।।

कबीर अपने शिष्यों से कहते हैं कि जब भेदी के, उस जानने वाले संत की शरण में जाते हैं तो वह अमूल्य वस्तु दिखा देता है, जिसको जानने में करोड़ों करोड़ों जन्म का लंबा रास्ता है, वह उसकी कृपा से एक ही पल में पहुंचा देता है। साथ तो करो, सत्संग तो करो, करके तो देखो–

भेदी लीन्हा साथ कर, वस्तु दई लखाय।
कोटि जनम का पंथ था, पल में पहुंचा जाय।।

और फिर कबीर कहते हैं कि मनुष्य इस संसार में आया, आकर उसने कई मित्र किये, परिवार, समाज, पुत्र इसके मोह में उलझा किंतु यदि साध संगत कर परमात्मा से प्रीति कर लें, दिल उससे जोड़ लें तब उसको किसी प्रकार की कोई चिंता नहीं रहती। हरि से प्रीति होने के बाद वह निश्चिंत हो जाता है, फिर भटकन नहीं होती :

कबीरा यह जग आयके, बहुत से कीने मीत।
जिन दिल जड़ा हरि से, वे सोये निश्चिंत।।

कबीर अपने सत्संग में आगे कहते हैं कि जब परमात्मा की शरण मिल जाती है, तब आत्मा रूपी रतन को खोज कर उसकी ओट में रहते हैं, वे व्यक्ति इस चलती हुई संसार की चक्की में पीसते नहीं है, उनका बाल भी बांका नहीं होता। परमात्मा की शरण चक्की के कीले की शरण के समान है, जो कीले की ओट में दाना होता है वह साबुत बचा रहता है :

चक्की चक्की सब ही कहे, कीला कहे न कोय।
जो कीलन की ओट में, तो बाल न बांका होय।।

महान संत कबीर संतों में ध्रुव तारे की तरह है। एक बार काशी में दसमेश घाट पर बैठे थे कबीर, सुबह से सांझ हो गई। वहां पर इस नश्वर देह को छोड़ने वालों की चिंताएं लगातार जलती रहती हैं, इतने लोगों को जलते देखकर कबीर उदास हो जाते हैं और शिष्यों से कहते हैं कि यह मनुष्य देह इस तरह जलती है, हड्डियां लकड़ी की तरह, केश घास की तरह, जैसे संसार जल रहा है फिर भी कोई उस अनन्त की खोज में नहीं निकलता, यह देख देखकर मैं उदास हो रहा हूं–

हाड जले ज्यों लाकड़ी, केश जले ज्यों घास।
सब जग जलता देखकर, भये कबीर उदास।।

फिर संतों को, शिष्यों को व जगत के प्राणियों से कबीर कहते हैं कि :

अब तुम कब सुमरोगे राम?
बालपन सब खेल गंवायो, यौवन में है काम।
हाथ-पांव जब कंपन लागे, निकल जायेंगे प्राण।।
झूठी काया झूठी माया, आखिर मौत निशान।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, कब सुमरोगे राम।।

बचपन हंसी खेल में, यौवन काम वासना के जाल में खो दिया, अब हाथ पांव कांपने लगे, रोग शरीर को असक्त कर रहा है तब सुमिरन कैसे होगा? तब तो मौत आकर खड़ी हो जायेगी, इस झूठे शरीर, झूठी माया को छोड़ो और मृत्यु आने से पूर्व उस राम का सुमरिन कर उसकी शरण में चले जाओ तो यह मनुष्य जीवन सफल हो जाये।

कबीर कहते हैं कि इस संसार में दस दिन रहना है, नौबत बजाले, फिर इस गांव इस शहर में वापस आना नहीं होगा। जहां सातों नौबत बजती थी, छत्तीस तरह के राग होते थे, वे सब मंदिर, महल खाली पड़े हैं, वहां अब कोएं बैठे देख रहा हूं। अतः हे शिष्यों! चेतो, चेत कर प्रभु के भजन में लग जाओः

कबीर नोबत आपनी, दिन दस लेहु बजाय।
यह पुर पट्टन यह गली, बहुरि न देखो आय।।
सातों नोबत बाजती, होत छत्तीसो राग।
सो मंदिर खाली पड़े, बैठन लागे काग।।

संत कबीर ने अपनी रहस्य भरी बातों को छोटे-छोटे पदों में व्यक्त किया है, यह छोटे पद इतने गहरे हैं, अंतर्मन में जो अंधकार भरा पड़ा है, उसे मिटाकर

ऐसा प्रकाश पुंज उत्पन्न करते हैं कि आत्मा के दर्शन सहज ही हो जाये। संत कहते हैं कि झूठा है यह सुख का अहसास, मन में सांसारिक सुखों से खुश होते हैं किंतु काल इस तरह आ रहा है कि उसने कुछ तो मुंह में खा लिया है और जो कुछ शेष है वह उसकी गोद में है—एक क्षण में सब कुछ समाप्त कर देगा :

झूठे सुख को सुख कहे, मानत है मन मोद।
जगत चबेना काल का, कुछ मुख में कुछ गोद।।

कबीर ने कहा—इस संसार में हमने हर तरह के उपाय किये किंतु सब व्यर्थ है, राम के नाम के समान कोई औषधि नहीं है वह औषधि हमारे भीतर पड़ी है, जिसका सेवन कर ले तो यह तन कंचन हो जाये :

सभी रसायन हम करी, नहीं नाम सम कोय।
रंचक घट में संचरे, कंचन सब तन होय।।

और कबीर ने स्पष्ट करते हुए कहा :

कस्तूरी कुंडल बसे, मृग ढूढ़ें बन माहिं।
ऐसे घटि घटि राम है, दुनिया देखत नाहीं।।
ज्यों तिल माहीं तेल है, चकमक माहिं आगि।
तेरा सांई तुझ में, जाग सके तो जागि।।

इस तरह संत कबीर ने संसार के प्राणियों को, साधु-संतों को हर तरह से चेताया है, फिर कहते हैं कि जब अंत समय आ जायेगा तो पश्चात्ताप के सिवाय कुछ नहीं होगा, हमारे नेत्र सदैव सदैव के लिये बंद हो जायेंगे, शरीर निश्चल हो जायेगा, चार जने अर्थी को उठाकर ले चलेंगे और तूने जो स्वार्थ से, लोभ से, मोह से, असत्य से जोड़ा एकत्र किया है वह तो सब यहीं रह जायेगा और तेरे साथ सूखी लकड़ियां चलेगी जो तेरे इस शरीर को जलाकर राख कर देंगी :

प्रान राम जब निकसन लागे,
उलट गई दोउ नयन पुतरिया।
नवाय धुवाय के बाहिर लाये
छूट गई सब महल अटरिया।।
चार जने मिलि खाट उठाइन,
ले चले मोहे डगर डगरिया।
कहत कबीर सुनो भई साधो,
संग चली वह सूखी लकरियां

सब कुछ छोड़कर जहां से जाना है, वहां तुम गहरी नींद सो रहे हो, अरे इस मनुष्य रूपी जीवन में तुम्हारे भीतर जो हीरे हैं, लाल हैं, उसे गिन-गिनकर हरि को सौंपने में लग जाओ, इस देह का क्या भरोसा, एक क्षण में ही यह लुप्त हो जायेगी, इसका क्या विश्वास? अतः श्वास-श्वास में सुमिरन करो, सुमिरन के अलावा और कोई उपाय नहीं। यदि उस प्रीतम का सुमिरन ठीक से कर लिया तो वह घट के भीतर है उसे प्राप्त कर तुम भी परमानन्द को, सच्चिदानन्द को प्राप्त कर सकते हो—

कबीर सोता क्या करे, उठन की कर चौंप।
यह दम हीरा लाल है, गिन गिन हरि को सौंप।।
क्या भरोसा देह का, विनस जाय छिन माहीं।
स्वास स्वास सुमिरन करो, और जतन कछु नाहीं।।

हमें भी सोचना है, सत्संग करना है। सद्गुरु को, उस भेदी व्यक्ति को जिसने उस परमात्मा को जाना है उसकी खोज इसी क्षण से करने में लगना है, समय जाते देर नहीं लगती, जो खोजता है, डूबता है, परमात्मा में पागल हो जाता है, वही पा लेता है। कबीर कहते हैं कि—

जिन खोजा तिन पाईयां, गहरे पानी पैठ।
मैं बौरी बूड़न डरी, रही किनारे बैठ।।

उतरो भीतर, भीतर के महा समुद्र में डूब जाओ, राम नाम के रतन धन को प्राप्त कर लो, अब किनारे बैठकर डूबने से क्यों डर रहे हो, करो प्रयास सफलता अवश्य मिलेगी। बूंद समुद्र हो जायेगी।

ज्यों नैनन में पूतली, त्यों प्रतीम घट माहीं।
मूरख लोग जाने नहीं, बाहर ढूंढन जाहीं।।

प्रारंभ किये हुये कार्य को अधूरा छोड़ने में मेरा विश्वास नहीं है। कोई भी सिद्धि—तप और बलिदान मांगती है, सिद्धि भौतिक हो या आध्यात्मिक, दोनों के लिये शक्ति अपेक्षित होती है। घबराहट का अवसर होने पर भी जिनके मन अस्थिर नहीं होते, वे ही वास्तव में धीर पुरुष हैं। संकट का, चिंता का, समय होने पर भी अपने मन को, विवेक को, सोच विचार की शक्ति को स्थिर रखना चाहिये। ❑

जीवन में रंगों का वैभव

जीवन का हर रंग
कितना निराला है।
कदम आगे बढ़ें तो
उजाला ही उजाला है।।

शान्ता जैन

जिंदगी कितनी रंगीन है। आंख यदि देखना चाहे तो हर दृश्य जीवन का एक दर्शन है। हमारे आस-पास प्रकृति के आंचल में रंगों का संसार सिमटा है। कहीं सुख तो कहीं दु:ख। कहीं हास्य तो कहीं रुदन। कहीं संयोग तो कहीं वियोग। कहीं स्वार्थ तो कहीं परार्थ। कहीं सपने हैं तो कहीं हम सच के आस-पास।

अनगिनत रंग-रूप के साथ कभी जिंदगी निराश होती है तो कभी आनन्द से भर जाती है। कभी प्रतिकूलताओं के विरुद्ध खड़े होकर साहस दिखाती है तो कभी छोटी-छोटी घटनाओं में घुटने टेक देती है। कभी सुख-सुविधाओं के बीच भी मन तृप्त नहीं होता तो कभी दु:खों के बीच भी सुख खोज लिये जाते हैं। हर पल विरोधी भावों के बीच जीता हुआ जीवन न जाने कितने रंगों के साथ आगे बढ़ता है। पर सच में बहुत कम लोग होते हैं जो रंगों की भाषा समझते हैं? रंगों की भाषा बोलते हैं और रंगों के साथ जीते हैं।

आज बिना होली रंगों की बात इसलिए कर रहे हैं कि रंग हमारी सांस है। जैन दर्शन में रंग को पुद्‌गल माना है और पुद्‌गल की परिभाषा में कहा गया है–स्पर्शरसगंधवर्णवान पुद्‌गलः-पुद्‌गल उसे कहते है जिसमें स्पर्श, रस, गंध व वर्ण हो। जब तक पुद्‌गल और आत्मा साथ है तब तक हमें इन रंगों के साथ समझौता करना होगा। इसलिए हमारी लेश्याओं पर चाहे वे शुभ हो या अशुभ–इन भावों पर हमें हर क्षण पहरेदारी रखनी होगी।

कोई भी रंग ऐसा भीतर न जाए जो शुभ न हो और कोई भी ऐसा रंग बाहर न आए जो भीतर से अशुभता साथ लेकर आ रहा हो। यानी बाहर से शुद्ध और भीतर से शुद्ध होने का यह उपक्रम रंग प्रयोगशाला का निर्माण करता है।

बुराइयों के आने के जब सारे रास्ते बंद कर देते हैं तब यह भी जरूरी हो जाता है कि हम भीतर से भी जो अच्छा नहीं है, उसे अच्छा बनाकर बाहर आने दें।

जैन-धर्म में बुराइयों का यह विशोधीकरण रंगों की चिकित्सा मानी जाती है। यह भी साधना का ही एक रूप है।

रंगों का संसार सिर्फ जो दीखता है वही नहीं होता। चेतना के भीतर भी एक रंगों का (लेश्या) संसार है। जहां कभी जीवन ऊंचाइयों पर दीखता है तो कभी नीचे ढलान पर, क्योंकि वहां शुभ और अशुभ दोनों भावों के प्रतिनिधि रंगों का अस्तित्व है। जो व्यक्ति भाग्य और नियति के भरोसे बैठे रहते हैं, जीवन के हर रंग को स्वीकार कर परिवेश और परिस्थिति के साथ समझौता कर लेते हैं, उनका जीवन कभी भी विकास के दौर में आगे नहीं बढ़ता, क्योंकि बिना पुरुषार्थ और बिना संकल्पी विश्वास के रंगों को जीया नहीं जा सकता। इस सफर में—आलस्य, आसक्ति, आकांक्षा और असंयम के इतने सघन अंधेरे होते हैं कि रंगों की रोशनियों से भरी ऊंची-ऊंची मीनारें दीखती भी नहीं। इसलिए आइए, जागरूकता के साथ रंगों का चयन करें। उनसे मिलें ताकि विकास के बढ़ते हर कदम को उजालों से हम भर सके।

बेरंग जिन्दगी सिर्फ बोझ होती है जिसे ढोया जाता है, जीया नहीं जाता। आइए, जिन्दगी के हर रंग को जीएं। रंगों के साथ रंगों की बात इसलिए करें कि हमें यह जानना जरूरी है कि दीखने वाले रंग सिर्फ सुन्दर होते हैं। जबकि भीतर के रंग सत्य और शिवमय होते हैं। इन्हें जानें ताकि हमारी सोच में, हमारी भाषा में, हमारे कर्म में सकारात्मक भावों का अवतरण हो और हम अपने लक्ष्य को पा सकें।

हम जैसे होंगे, भावों के रंग वैसे बन जाएंगे या फिर जैसे रंग होंगे, हम वैसे बन जाएंगे। अब प्रश्न है कि हम चाहते क्या हैं? अच्छा बनना या बुरा बने रहना? संभवतः दुनिया में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं होगा जो अच्छा होना नहीं चाहता। फिर भी नियति और भाग्य कहीं न कहीं हमें ऐसा होने नहीं देते। पुरुषार्थ हमारा कभी कहीं कमजोर क्यों पड़े? भूल से भी हम कभी बुरा न देखें, बुरा न सुनें व बुरा न बोले। भावों की पवित्रता के लिए इस भूमिका पर आइए, हम रंगों से मिलें—

- साहस चाहिए तो लाल रंग से मिलें
- ज्ञान चाहिए तो पीले रंग से मिलें
- स्वस्थता चाहिए तो हरे रंग से मिलें
- संतुलन चाहिए तो नीले रंग से मिलें
- प्रतिरोधात्मक शक्ति चाहिए तो काले रंग से मिलें।
- शांति चाहिए तो सफेद रंग से मिलें।

रंगों का मिलन अंधेरों की घाटियां पार कर आदमी को उजालों से मिला देता है। जरूरत सिर्फ एक कदम बढ़ाने की है। अंधेरों की कोई उम्र नहीं होती, एक दीया जलाएं, अंधेरा समाप्त। इसलिए रंगों की कहानी का नायक बनकर हर चरित्र तो आनंद के साथ जीएं तो वह महाग्रंथ बन सकता है। ❑

विनोद बैद, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1
के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं प्रेषित और सांखला प्रिंटर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।

हार्दिक शुभकामनाओं सहित

B.N. GROUP

स्व. श्री बच्छराजजी-रतनीदेवी नाहटा

की पुण्य स्मृति में

शासनसेवी

बिमल-सुशीला, संदीप-मीता

सलोनी, प्रियंक, सांची नाहटा

सरदारशहर-गुवाहाटी

KAMAKHYA UMANANDA BHAWAN

A.T. ROAD, GUWAHATI 781001 (ASSAM)

जैन भारती, सितम्बर, 2014 ■ प्रेषण दिनांक 28 अगस्त, 2014
भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पंजीयन संख्या : बीकानेर/048/2012-2014

शासनसेवी बुद्धमल दुगड़
सुरेन्द्रकुमार, तुलसीकुमार, कमलकुमार दुगड़
(कल्याण मित्र दुगड़ परिवार)

के.बी.डी. फाउण्डेशन

बुद्धमल सुरेन्द्र दुगड़ फाउण्डेशन

बुद्धमल तुलसी दुगड़ फाउण्डेशन

बीएमडी कमल दुगड़ फाउण्डेशन

201/504, वैष्णो चेंबर, 6, बेब्रॉर्न रोड, कोलकाता 700001
फोन : 22254103/4889

प्रेषक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401 • फोन : 0151-2270779

नोट : आपके पते में कोई कमी, अशुद्धि या पिन-कोड नहीं हो तो कृपया सूचित करें। ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।